सूरि श्री शांतिसागराय नमः।

आद्य निवेदन

यह रयणसार नामक ग्रंथ प्राकृत भाषामें भगवान श्रीकुंदकुंद स्वामीने निर्माण किया है। इस छोटेसे सूत्र ग्रंथमें श्रावकधर्म व मुनिधर्मका गूढ रहस्य गम्भीर और मधुर भाषामें ओतप्रोत भरा हुआ है।

रयणसार दोहा की पद्यात्मक रचना किन महानुभावने की है यह स्पष्ट कहा नहीं जाता है तो भी रयणसार दोहा मूल प्रतिमें "पं० सदासुखकृत रयणसार दोहा" ऐसा उल्लेख है। पं० सदासुखजीका विशेष विवरण अज्ञात होनेसे विवेचन करनेमें असमर्थता है। दोहों की पद्यरचना छंद शास्त्रसे कहीं कहीं पर स्खलित है परंतु अर्थदृष्टिसे भावपूर्ण और हृदयहारिणी है।

इस ग्रन्थका प्रकाशन—सज्जनोत्तम लाला छोटेलालजी मालिक फर्म—लाला न्यादरमलजी मक्खनलालजी जैन मेदावाले नयाबांस देहली वालोंने ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयार्थ किया है।

—क्षुल्लक ज्ञानसागर

मुद्रक—श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
जैनसिद्धान्त प्रकाशक प्रेस
कलकत्ता



श्रीवीतरागाय नमः ।

रयणसार



णमिऊण वड्ढमाणं, परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण ।
वोच्छामि रयणसारं, सायारणयारधम्मीणम् ॥१॥

वर्धमान जिनदेवको, मनवचकाय त्रिशुद्ध ।
करि प्रणाम भासूं सुमुनि—, श्रावकधर्म प्रसिद्ध ॥१॥

अर्थ—श्री परमात्मा वर्धमान जिनेन्द्रदेवको मनवचनकायकी शुद्धिसे नमस्कार कर गृहस्थ और मुनिके धर्मका व्याख्यान करनेवाला 'रयणसार' नामका ग्रन्थ कहता हूं ॥१॥

पुव्वं जिणेहि भणियं, जहट्ठियं गणहरेहि वित्थरियं।
पुव्वाइरियक्कमजं, तं बोल्लइ जोहु सद्दिट्ठी ॥२॥

जो जिनवरने कहा, भाषा गणधर देव।
अनुक्रम पूर्वाचार्यके, सम्यग्दृष्टि कहेव ॥२॥

अर्थ—सर्वज्ञ जिनदेवने अपनी दिव्यध्वनिसे यथार्थ उपदेश दिया था, चारज्ञानके धारक श्रीगणधर देवने उसीका विस्तार कर अल्पज्ञानी जीवोंको समझाया था। उसके बाद उत्तरोत्तर आचार्योंने उसी पदार्थका निरूपण किया, इस तरह पूर्वाचार्योंकी परंपरा चली आई। इस परिपाटीके अनुसार जो बोलता है, श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—श्री सर्वज्ञ जिनदेव और गणधरदेवके पीछे उत्पन्न होनेवाले आचार्योंने भी वीतरागभावसे सर्वज्ञके वचनोंका ही प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार जिन जिन भट्टारक या गृहस्थोंने वीतराग विशुद्धभावोंसे सर्वज्ञदेवके वचनोंको कहा है वे सब वचन

सर्वज्ञदेवके ही हैं इसीलिये वे सब वचन प्रमाणभूत हैं, सत्य मार्गानुसारी हैं, जिनागम हैं और श्रद्धा करने योग्य हैं। उन वचनोंसे जीवोंका कल्याण होता है। जो सर्वज्ञदेवके वचनोंको वीतरागभावसे पक्षपात रहित प्रतिपादन करता है वह सम्यग्दृष्टी है। मोक्षमार्गानुसारी सत्य वचन कहनेवाला प्रामाणिक है किंतु जो मुनि ब्रह्मचारी या पंडित जिनागमके वचनोंको अपने विषय कषाय मान बड़ाई रागद्वेष और पक्षपातभावोंसे अन्यथा प्ररूपणा करता है, अर्थका विपरीत अर्थ करता है, वह मिथ्यादृष्टि जैनधर्मसे बहिर्भूत है।

मदिसुदणाणबलेण दु सच्छंदं बोल्लई जिणुत्तमिदि।
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्गरवो॥३॥

मति श्रुत ज्ञान सुबल सुछन्द, भाषे जिन उपदिष्ट।
जो सो होइ कुदृष्टि नर, नहिं जिनमारग इष्ट॥३॥

अर्थ—जो मनुष्य मतिज्ञान या श्रुतज्ञानके अभिमानसे श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित अर्थको स्वच्छन्द (अपने मनकल्पित यद्वा तद्वा विरुद्धार्थ अथवा आगमके सत्यार्थको छिपा कर मिथ्या अर्थरूप) कहता है वह मिथ्यादृष्टी है। वह जिनधर्मका पालन-

करता हुआ भी जैनधर्मसे सर्वथा पराङ्मुख है, जैनधर्मसे वहिर्भूत है, मिथ्यादृष्टी है।

भावार्थ---जिनको बुद्धि व ज्ञानकी प्रखरता है परन्तु दर्शनमोहनीयकर्मका जिनकें उदय है, ऐसे जीव जैनधर्मको धारण करके भी अपने ज्ञानके मिथ्या अभिमानसे श्री जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित अर्थके स्वरूपको अन्यथा (आगमके विरुद्ध) कहते हैं, वे मिथ्यादृष्टी हैं।

जो विषय कषाय मान बड़ाई आदि स्वार्थके वश होकर अथवा किसी कारणसे रागद्वेषके वश होकर अपने ज्ञानके अभिमानसे आगमके अर्थको अपने मनकल्पित अर्थके द्वारा अन्यथा प्रतिपादन करते हैं वे मिथ्यादृष्टी हैं।

स्वरूप-विपर्यास, भेद-विपर्यास, लक्षण-विपर्यास, कारण-विपर्याससे वस्तुका स्वरूप अन्यथा हो जाता है। जो रागी द्वेषी पक्षपाती मनुष्य कुशिक्षा प्राप्त कर ज्ञानके मदमें विवेक और विचार रहित हो कर विषयकषायोंकी पुष्टिके लिये जिनागमका अर्थ विपरीत करता है या अपने मन-कल्पित अर्थको जिनागमका स्वरूप बतला कर वस्तुस्वरूपमें विपर्यास उत्पन्न करता है वह पापी है, जैनी हो कर भी जैनधर्मसे वहिर्भूत मिथ्यादृष्टी है। और जो मनुष्य सदाचारका-नीति-चारित्र और धर्मका लोप कर अपनी पाप-वासनाको सिद्ध करनेके लिये असदाचारको धर्मका

स्वरूप बतला कर जिनागमकी साख दे कर जिनागम पर अवर्णवाद लगाता है, वह भी पापी जिनधर्मसे वहिर्भूत मिथ्यादृष्टी है।

जो मनुष्य तर्क या युक्तिके वल पर हिंसा झूठ और पापाचरणोंको धर्म सिद्ध करता है वह भी मिथ्यादृष्टी है तथा जो जिनागमको अपनी युक्ति पर ही सिद्ध करना चाहता है वह भी मिथ्यादृष्टी है।

सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं।
तं जाणिज्जइ णिच्छयववहारसरूवदो भेदं॥ ४॥

समकित रतन सुसार मइ, कह्यो मोक्षतरुमूल।
सो निश्चय स्व स्वरूपतें, व्यवहार सु अनुकूल॥ ४॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ही समस्त रत्नोंमें सारभूत रत्न है और वह मोक्षरूपी वृक्ष-का मूल है। सम्यग्दर्शनके निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन इस प्रकार दो भेद हैं।

भावार्थ—वाह्य और आभ्यंतर कारणोंके निमित्तसे जीवोंके परिणामोंमें जो विशुद्धता प्राप्त होती है उससे आत्माकी प्रतीति आत्माभिरुचि और आत्मिक गुणोंकी

श्रद्धाका होना निश्चयसम्यग्दर्शन है। तथा आत्माके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले सच्चे देव शास्त्र और गुरुका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

आत्मा अनंत गुणोंका पिंड है, उन गुणोंमें एक सम्यग्दर्शन भी आत्माका गुण है। वह आत्माको अपनी आत्माके स्वभावमें स्थिर कराता है और उससे आत्मा अपने स्वरूपमें परिणमन करता है, अपने आत्मगुणोंमें अभिरुचि करता है और पर पदार्थोंको अपनेसे भिन्न समझ कर अपनाता नहीं है यही सम्यग्दर्शन है।

भयविसणमलविवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्वण्णो।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥ ५ ॥

सात विसन भयमल रहित, विरत भोगभवदेह।
वसुगुण पूरण पंचगुरु, भक्ति सुदर्शन एह ॥ ५ ॥

अर्थ—सात व्यसन, सात प्रकारके भय और पच्चीस शंकादिक दोषोंसे रहित तथा संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्तभाव और आठ निःशंकादिक गुणों सहित पच परमेष्ठीमें भक्ति-भावना रखना विशुद्ध सम्यग्दर्शन है।

णियसुद्धप्पणुरत्तो वहिरप्पावच्छवज्जिओ णाणी।
जिणमुणिधम्मं मण्णइ गइदुक्खी होइ सद्दिट्ठी ॥६॥

निज शुद्धापण अनुरकत, वहिर अवस्थ न कोइ।
बुधमानत जिन मुनिधरम, समदिठि निरमदुख होइ ॥ ६ ॥

अर्थ—जो विचारशील भव्यात्मा अपनी आत्माके शुद्ध स्वभावमें अनुरक्त (तन्मय) होता है और पर पदार्थजन्य पुद्गलोंकी शुभाशुभ पर्यायोंसे विरक्त होता है, जो श्रीजिनेन्द्र भगवान् निर्ग्रंथ (नग्न) गुरु तथा जिनधर्मको श्रद्धाभाव भक्ति-पूर्वक मानता है वह संसारके समस्त प्रकारके दुःखोंसे रहित सम्यग्दृष्टी है।

भावार्थ—शुद्धबुद्ध ज्ञायकैक स्वभाव परमवीतराग आत्माके स्वभावमें तन्मय हो कर देव धर्म गुरुकी प्रतीतिसे वीतराग परिणतिमें स्थिर होनेकी भावना करना सो सम्यग्दर्शन है।

मयमूढमणायदणं संकाइवसणभयमईयारं।
जेसिं चउदालेदो ण संति ते होंति सद्दिट्ठी ॥७॥

भय मद मूढ़ानायतन, शंकादिक अतीचार ।

विसन जासु नहि चालचतु, सो समदिष्टी सार ॥ ७ ॥

अर्थ---जिनके आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन, आठ शंकादिक दोष, सात व्यसन, सात प्रकारके भय और पांच अतीचार ये चवालीस दूषण नहीं हैं वे सम्यग्दृष्टी हैं ।

उहयगुणवसणभयमलवेरग्गाइचारभत्तिविग्घं वा ।

एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया * ॥ ८ ॥

अर्थ---आठ मूलगुण और बारह उत्तर गुणों (बारहव्रत--अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत)का प्रतिपालन, सात व्यसन और पच्चीस सम्यक्त्वके दोषोंका परित्याग, बारह वैराग्यभावनाका चिंतवन, सम्यग्दर्शनके पांच अतीचारोंका परित्याग, भक्ति-भावना, इस प्रकार दर्शनको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी श्रावकके सत्तर गुण हैं ।

देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोगपरिचित्ता ।

रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुव सिवसुहं पत्ता ॥ ९ ॥

---

* यह गाथा प्राचीन लिखित प्रतियोंमें नहीं है तथा दोहा कविने इसके दोहे नहीं बनाये हैं ।

देवगुरु श्रुत भक्ति जे, भवतनभोग विरत्त ।
जे रतनत्रय संजुगत, ते जन शिवसुख पत्त ॥ ९ ॥

अर्थ---जो देव जिनागम और निर्ग्रंथ दिगंबर गुरुको मोक्षमार्गमें मापक तथा आत्माके कल्याण करनेवाले समझ कर श्रद्धापूर्वक भक्तिभावसे सेवा करते हैं और जो संसार शरीर भोगोंसे विरक्त हैं, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय सहित हैं ऐसे भव्योत्तम मनुष्य ही मोक्षसुखको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ---सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे रत्नत्रयकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है तथापि व्यवहार रत्नत्रयको धारण किये विना मोक्षमार्गकी व्यक्तता नहीं है। जब तक सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं है तब तक साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर भी एक सम्यक्चारित्रके विना अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल पर्यन्त परिभ्रमण होसक्ता है परंतु यथाख्यातचारित्रके होने पर स्वल्प समयमें ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है इसलिये मोक्षमार्गकी प्राप्तिके लिये व्यवहार रत्नत्रय धारण करनेकी परमावश्यकता है।

दाणं पूजा सीलं उपवासं बहुविहं पि खवणंपि ।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसारं ॥ १० ॥

पूजा शील उपवास व्रत, बहुधा अथ मुनिरूप।
समकित संजुत मोक्षसुख, विन समकित भवकूप ॥ १० ॥

अर्थ—दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास अनेक प्रकारके व्रत और मुनिलिंग धारण आदि सर्व एक सम्यग्दर्शन होने पर मोक्षमार्गके कारणभूत हैं और सम्यग्दर्शनके विना जप तप दान पूजादि सर्व कारण संसारको ही वढाने वाले हैं।

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाझयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सोवि ॥ ११ ॥

श्रावक धर्म सुश्रावगह, दान पूजमुख जानि।
ध्यानाध्ययन जती सुमुख, तिन विन दुहू न मानि ॥ ११ ॥

अर्थ—सुपात्रमें चार प्रकारका दान देना और श्री देव शास्त्र गुरुकी पूजा करना श्रावकका मुख्य धर्म है। जो नित्य इन (दोनों) को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझकर पालन करता है वही श्रावक है, धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी है तथा ध्यान और जिनागमका स्वाध्याय करना मुनीश्वरोंका मुख्य धर्म है। जो मुनिराज इन दोनोंको अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ कर अहर्निश पालन करता है वही मुनीश्वर है, मोक्षमार्गमें

संलग्न है। यदि श्रावक दान नहीं देता है और न प्रतिदिवस पूजा करता है वह श्रावक नहीं है। जो मुनीश्वर ध्यान और अध्ययन नहीं करता है वह मुनीश्वर नहीं है।

भावार्थ—श्रावककी पहिचान (लक्षण) दान और पूजासे होती है और मुनिश्वरोंकी पहिचान ध्यान और अध्ययनसे होती है।

दाणु ण धम्मु ण चागु ण भोगुण वहिरप्प जो पयंगो सो।
लोहकसायग्गिमुहे पडिउ मरिउ ण संदेहो ॥१२॥

दान न धर्म न न भोगगुण, जो पतंग वहिरात।
लोभ कषाय हुतासमुख, परै मरै विख्यात ॥१२॥

अर्थ—जो श्रावक सुपात्रमें दान नहीं देता है, न अष्टमूल गुणव्रत संयम पूजा आदि अपने धर्मका पालन करता है और न भोग ही नीतिपूर्वक भोगता है वह बहिरात्मा है मिथ्यादृष्टी है। जैनधर्म धारण करने पर भी जैनधर्मसे वहिर्भूत है। वह लोभकी तीव्र अग्निमें पतंगके समान पड कर मरता है इसमें संदेह नहीं है।

भावार्थ—जो श्रावक परस्पर विरोध रहित धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थको सेवन

करता है वह मोक्षमार्गमें संलग्न है, सम्यग्दृष्टी है। किंतु जो श्रावक मोहके वश हो कर धर्म सेवन नहीं करता है और सुपात्रमें दान नहीं देता है तथा न भगवानकी पूजा ही करता है किंतु खाना पीना आदि सर्व भूलकर केवल धन कमानेमें ही अपना जीवन पूर्ण करता है वह लोभी निरंतर हिंसा आरंभ आदि घोर पापोंको ही संपादन कर संसारमें भ्रमण करता है।

जिणपूजा मुणिदाण करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥१२॥

यज्ञ करै जिन दान मुनि, देइ सकति अनुसार
समदृष्टी श्रावक धरम, सो उतरे भवपार ॥ १२ ॥

अर्थ— जो श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिवस देव, शास्त्र, गुरुकी पूजा करता है और सुपात्रमें चार प्रकारका दान देता है वह सम्यग्दृष्टी श्रावक है। दान देना तथा पूजा करना श्रावकका मुख्य धर्म है। जो भक्तिभाव और श्रद्धा पूर्वक अपने धर्मका पालन करता है सो मोक्षमार्गमें शीघ्र ही गमन करता है। संसार समुद्रसे पार हो जाता है।

पूयाफलेण तिल्लोके सुरपूज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥

मनसुध पूजे तासफल, त्रिजग ईस करि पूजि ।
दान फलै त्रैलोक मधि, नियमसार सुख भूजि ॥१४॥

अर्थ—जो शुद्ध भावसे श्रद्धा पूर्वक पूजा करता है वह पूजाके फलसे त्रिलोकके अधीश व देवताओंके इन्द्रोंसे पूज्य हो जाता है और जो सुपात्रमें चार प्रकार दान देता है वह दानके फलसे त्रिलोकमें सारभूत उत्तम सुखोंको भोगता है।

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं संदसणे किं वियारेण ॥१५॥

दीने भोजन मात्र दत, होत धन्य सागार ।
पात्र अपात्र विशेष सत, दरशन कौन विचार ॥१५॥

अर्थ—भोजन (आहार दान) दान मात्र देनेसे ही श्रावक धन्य कहलाता है। पंचाश्चर्यको प्राप्त होता है, देवताओंसे पूज्य होता है। एक जिनलिंगको देखकर आहार-दान देना चाहिये। जिनलिंग धारण करने पर पात्रापात्र की परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ—सर्वप्रकारके परिग्रह और आरंभरहित नग्न दिगम्बर जिनलिंगको धारण करनेवाले मुनीश्वरों को आहारदान देनेके प्रथम यह विचार करना कि ये मुनीश्वर द्रव्यलिंगी हैं या भावलिंगी हैं। जबतक इनको पूर्ण परीक्षा न होजायगी तब तक इनको आहार नहीं देना चाहिये। अथवा जिनलिंग धारण करनेवाले वीतराग निर्ग्रन्थ मुनीश्वरों की परीक्षा कर आहारदान की प्रवृत्ति करना आदि समस्त विचार सम्यग्दृष्टीके लक्षणसे विपरीत भाव समझने चाहिये।

परम निस्पृह—वीतराग—आरंभ परिग्रह रहित मुनीश्वरोंके छिद्र देखना, अपनी बुद्धि और तर्कके द्वारा जिनलिंगके विषयमें आगमके विपरीत भावोंको प्रदर्शन कर जिनलिंग धारण करने वाले मुनीश्वरोंकी परीक्षा करना आदि सब मिथ्यात्वकर्मका उदय है। आहारदान प्रदान करनेके लिये इस प्रकार कुचेष्टाओंके द्वारा जिनलिंगको धारण करने वालोंके उत्साह और चारित्रको मंद करना भी मिथ्यात्वका कार्य है।

जिनलिंगको देखते ही उसको सुपात्र समझकर भक्ति भाव और श्रद्धा पूर्वक नवधा-भक्तिसे आहारादि दानको देना श्रावकका धर्म है। श्रावकके लिये श्रीकुंदकुंदभगवान् की यही आज्ञा है कि जिनलिंग ही सुपात्रका चिन्ह है। श्रावकको आहारदान देनेके लिये जिनलिंगको देखकर फिर यह द्रव्य लिंगी कुपात्र है इस प्रकारकी परीक्षा करनेका कोई भी अधिकार नहीं है और न इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिये।

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ १६ ॥

दीज दान सुपात्र गइ, भोगभूमि सुरभोग ।
अनुक्रमतें निरवान सुख, यह जिन कथन वियोग ॥१६॥

अर्थ—सुपात्रको दान प्रदान करनेसे नियमसे भोगभूमि तथा स्वर्गके सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ऐसा श्री-जिनेन्द्र भगवानने परमागममें कहा है ।

खेतविसस काले ववियं सुवीयं फलं जहा विउलं ।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥ १७ ॥

ज्यों सुखेत सुभकाल जो, वपै बीज फलपूर ।
तैसें पात्र विशेष फल, जांन सुदान अंकूर ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्तम खेतमें अच्छे बीजको बोता है तो उसका फल मनवाञ्छित पूर्णरूपसे प्राप्त होता है । इसी प्रकार उत्तम पात्रमें विधिपूर्वक दान देनेसे सर्वोत्कृष्ट सुखकी प्राप्ति होती है ॥१७॥

इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्त सत्तखेत्तेसु।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥ १८ ॥

इह निज वित्त सुवीज जो, बपै जिनुक्त सतखेत।
सोत्रिभुवनको राजफल, भोगि तीर्थंकर हेत ॥ १८ ॥

अर्थ---जो भव्यात्मा अपने (नीतिपूर्वक संग्रह किये हुये धन) द्रव्यको श्री-जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए सात क्षेत्रमें वितरण करता है वह पंचकल्याणकी महा विभूतिसे सुशोभित त्रिभुवनके राज्यसुखको प्राप्त होता है।

मादुपिदुपुत्तमित्तं कलत्तधणधण्णवत्थुवाहणविसयं।
संसारसारसोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥ १९ ॥

मात पिता सुत मित्र तिय, धन पट वाहन भेव।
विभवसार संसार सुख, जानो पात्रदत हेव ॥ १९ ॥

अर्थ---माता पिता पुत्र स्त्री मित्र आदि कुटुंब परिवारका सुख और धन धान्य वस्त्र अलंकार रथ हाथी महल तथा महान विभूति आदिका सुख एक सुपात्र दानका फल है ऐसा समझना चाहिये।

सत्तंगरज्ज णवणिहिभंडारसंडगवलचउद्दहरयणं ।
छणणवदिसहसिच्छिविहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥२०॥

सप्तराज अंग निद्धिनव, कोस श्रृंग षटसेन ।
रतन दुसत त्रियछिनव, सहस जान पात्रदानेन ॥ २० ॥

अर्थ—सात प्रकार राज्यके अंग, नवनिधि, चौदह रत्न, माल खजाना, गाय हाथी घोड़े सात प्रकारकी सेना, षटखंडका राज्य और छयानवे हजार रानी ये सर्व सुपात्र दानका ही फल है ऐसा समझना चाहिये ।

सुकुल सुरूव सुलक्खण सुमइ सुसिक्खा सुसील सुगुणचारित्तं ।
सुहलेसं सुहणायं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥ २१ ॥

सुकुल रूप लक्षण सुमति, शिक्षा सुगुण सुशील ।
शुभ चरित्र सब अक्ष सुख, विभव पात्रदतलील ॥२१॥

अर्थ—उत्तम कुल, सुंदर स्वरूप, शुभलक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोषशिक्षा, उत्तम शील, उत्तम उत्कृष्ट गुण, अच्छा सम्यक्चारित्र, उत्तम शुभलेश्या, शुभनाम और

समस्त प्रकारके भोगोपभोगकी सामग्री आदि सर्व सुखके साधन सुपात्रदानके फलसे प्राप्त होते हैं।

जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥२२॥

जो मुनि भोजन शेष भुक्, भाष्यौ जिनवर देव।
भोगि सार संसारसुख, अनुक्रम शिव सुख हेव ॥ २२ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव मुनीश्वरोंको आहारदान देनेके पश्चात् अवशेष अन्नको प्रसाद समझ कर सेवन करता है वह संसारके सारभूत उत्तम सुखोंको प्राप्त होता है और क्रमसे मोक्षसुखको प्राप्त होता है ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवानने कहा है॥

भावार्थ—जिस थालमें मुनिराजको आहारदान दिया है उस थालमें बचे हुए अन्नको मुनिराजका प्रसाद (गुरु प्रसाद) समझ कर सेवन करना चाहिये। 'दान-शासन' आदि कितने ही ग्रंथोंमें आचार्योंने यही आज्ञा प्रदान की है कि मुनिराजकी भुक्तिका अवशेष अन्न सेवन करनेका फल मोक्षकी प्राप्ति है।

सीदुण्ह वाउपिउलं सिलेसिमं मह परीसमव्वाहिं।
कायकिलेसुव्वासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं ॥ २३ ॥

शील उसन अथवा विपुल, श्लेष्म परिश्रम व्याधि।
कायकिलेश उपवासजुत, तिनहि दान आराधि ॥ २३ ॥

अर्थ—श्रीमुनिराजकी प्रकृति शीत है या उष्ण, वायु वातरूप है या श्लेष्मारूप है या पित्तरूप है। मुनिराजने कायोत्सर्ग और विविध प्रकार आसनोंसे कितना श्रम किया है, गमनागमनसे कितना परिश्रम हुआ है, मुनिराजके शरीरमें ज्वर संग्रहणी आदि व्याधिकी पीड़ा तो नहीं है। कायक्लेश तप और उपवासके कारण मुनिराजके कण्ठ आदिमें शुष्कता तो नहीं है इत्यादि समस्त बातोंका विचार कर उसके उपचार स्वरूप योग्य आहार औषधी दुध गर्मजल आदि देना चाहिये।

भावार्थ—मुनिराज की प्रकृतिको विचारकर और द्रव्यक्षेत्र कालके स्वरूपको लक्षमें रखकर दान देना चाहिये। दाताके सातगुणोंमें सबसे मुख्य विवेकगुण माना है। विवेक और विचारके विना भक्तिभाव यद्वा तद्वा दान देनेसे विशेष हानि होने की संभावना और पापकर्मकी प्रवृत्ति होसकती है। मुनिराज को गर्मी और शुष्कता बढ

रही हो ऐसे समयमें यदि विवेक और विचारके विना विशेष गम पदार्थ दान दिया जाय तो वह दान विशेष हानिप्रद ही होगा। इसी प्रकार आहारकी सामग्री तैयार करनेमें विशेष हिंसा और मलिनताका विचार अवश्य ही रखना चाहिये।

हियमियमण्णं पाणं णिरवज्जोसहिणिराउलं ठाण।
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देइ मोक्खरवो ॥ २४ ॥

हित मित भेषज पान भख, रहन निराकुल थान।
सज्या आसन उपकरन, जो दे शिवसुख मान ॥ २४ ॥

अर्थ—हित मित प्रासुक शुद्ध अन्न पान, निर्दोष हितकारी औषधी, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दानयोग्य वस्तुओंको सुपात्रकी आवश्यकतानुसार सम्यग्दृष्टी प्रदान करते हैं।

१—शयनोपकरण—घास चटाई फलक (लकड़ीका तखत) आदिको कहते हैं। आसनोपकरण—लकड़ीका पाटला चौकी तखत बैठनेके साधनको कहते हैं। ज्ञानोपकरण—शास्त्र और उसके साधक ज्ञान बढ़ानेवालेको कहते हैं। शौचोपकरण—पीछी कमंडलु आदिको कहते हैं।

भावार्थ—सुपात्रकी प्रकृति और द्रव्य क्षेत्र कालके निमित्तसे होनेवाली रत्नत्रयकी शिथिलता एवं दैवनिमित्तसे होनेवाले मोक्षमार्गके साधनके विघ्नोंको दूर करनेके लिये, मोक्षमार्गको सतत प्रकट करनेके लिये, धर्मकी प्रभावनाके लिये, जिनशासनकी स्थिरताके लिये, असमर्थ सुपात्रोंके उत्साहकी वृद्धि और वात्सल्यभावके लिये हित मित भोजन पान, मठ आदि निवास स्थान औषधि और उपकरण आदि सम्यग्दृष्टीको प्रदान करना चाहिये। जो भव्य जीव द्रव्य क्षेत्र कालकी परिस्थितिको विचार कर उसके योग्य चार प्रकारका दान सुपात्रमें देता है वह मोक्षमार्गमें अग्रगामी है।

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिच्चा।
गब्भभवेव मादा पिदुवाणिच्चं तहा णिरालसया ॥२५॥

अणगारह वैयावरत, करै जथा जो नित्त।
मात पिता जैसें गरभ, पाल निरालस चित्त ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार माता पिता अपने गर्भसे होनेवाले बालकका भरणपोषण लालनपालन और सेवासुश्रूषा तनमनकी एकाग्रता और प्रेमभावसे करते हैं, सर्व-

प्रकारसे बालकको सुरक्षित रखते हैं, इसी प्रकार सुपात्रकी वैयावृत्य सेवासुश्रूषा आहार पान व्यवस्था निवासस्थान आदिके द्वारा पात्रकी प्रकृति कायक्लेश वात-पित्त आदि व्याधि और द्रव्यक्षेत्रकालके उपद्रवोंको विचार कर करनी चाहिये।

भावार्थ—यदि सुपात्र (मुनिमार्ग) सुरक्षित है तो धर्म सुरक्षित है। मुनिमार्गके नष्ट होने पर धर्मका सर्व प्रकारसे लोप हो जाता है। गृहस्थधर्मकी स्थिरता भी मुनिमार्ग पर ही अवलंबित है। जिनशासनका प्रकाश मुनिमार्गसे ही है इसलिये जिस प्रकार हो सके सर्व प्रकारके प्रयत्नोंसे मुनिमार्ग स्थिर करना चाहिये, मुनिमार्ग बढ़ाना चाहिये, सर्वप्रकारकी आपदाओंसे सुरक्षित और निराकुल बनाना चाहिये।

मुनिधर्मको सर्व प्रकारसे निराकुल करना ही वैयावृत्य है। मुनिधर्मका प्रभाव प्रकट करना सेवासुश्रूषा करना आहारदान देना औषधदान देना वसतिका दान देना सो सर्व वैयावृत्य है *।

---

* हाथ पैर दबाना, मल मूत्र दूर फेंकना, लार कफ आदिको दूर करना आदि यह सर्व वैयावृत्य है तथा मुनिराजके स्थानको साफ करना, बीमारीमें टहल करना, शौचके लिये गर्म पानी देना, आहार औषधी पीछी कमंडलु शास्त्र आदि उपकरण देना, राजभय लोकभय मिथ्यादृष्टियोंके उत्पातसे बचाना यह सर्व वैयावृत्य है।

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणां फलाणसोहवहं ।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहासवं जाणे ॥२६॥

सतपुरुषनके दानकी, सुरतरु सुफल सुशोभ ।
लोभी जनिको दान ज्यों, शवविमान सम शोभ ॥२६॥

अर्थ—धर्मात्मा सम्यग्दृष्टीका दान कल्पवृक्षके फलके समान महान शोभाको प्राप्त होता है और लोभी पुरुषका दान मृतक पुरुषके विमान (ठाठरी) के समान है।

भावार्थ—धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी पुरुषोंका सुपात्रमें दान, श्रद्धा, भक्ति और भावपूर्वक होता है इसलिये वह दान पंचाश्चर्य विभूतिके साथ स्वर्गमोक्षके महान फलको प्राप्त कराता है परन्तु लोभी पुरुषका दान मान बडाईकी इच्छासे दिया जाता है इसलिये वह मुर्दाकी ठठरीके समान है।

जसंकित्तिपुण्णलाहे देइ सुवहुगंपि जत्थ तत्थेव ।
सम्माइ सुगुणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति ॥२७॥

१—अपनी मान बड़ाई और कीर्तिके लियें मिथ्यादृष्टी पुरुषोंको मिथ्यामत की वृद्धिके लिये दान देना दीर्घ संसारका ही कारण है। अपनेको जैनधर्मका श्रद्धानी जैनी माननेवाला श्रीमान् अपनी

जस कीरति शुभलाभको, जहं तहं बहुत सुदेहिं ।
भाजन सुगुण सुपात्रको, नहिं विशेष जानेहि ॥२७॥

अर्थ—लोभी अज्ञानी पुरुष अपनी कीर्ति-यश मान बडाई और पुण्यलाभकी इच्छा से कुपात्र अपात्र आदि अयोग्य मिथ्या अनायतनोंमें बहुत दान देते हैं परन्तु उन को सम्यक्त्वरत्नसे सुशोभित अनेक गुणोंकी खानि ऐसे सुपात्रकी पहिचानही नहीं है ।

ख्याति लाभ मान प्रतिष्ठा और खुशामदके गौरवमें पड़कर मिथ्यात्वकी वृद्धिके लिये मिथ्यामार्गमें दान प्रदान करना सो भी संसारका ही कारण है । जैनयात्रा प्रतिष्ठा संघ रथोत्सव जिनबिंबनिर्माण आदिके लिये प्रदान किया हुआ दान, मान बड़ाईके कारण विधवाश्रम स्कूल और बोर्डिंग आदिमें लगा देना भी संसारका ही कारण है । जिन जिन कारणोंसे जैनधर्मका ह्रास, देव शास्त्र गुरुका अवर्णवाद और चारित्रका लोप होता हो ऐसे कारणोंमें दान देना संसारका ही कारण है । कुशिक्षा, हिंसा, और पापके कार्योंमें दान देना भी अयोग्य है ।

इसी प्रकार मान बड़ाईके लोभमें पात्र अपात्रकी परीक्षाका विचार किये विना यद्वा तद्वा अपात्र कुपात्रमें दान देकर खुश होना और सत्पात्रकी निंदा करना आदि सब मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होता है । पंचमकालमें इसीलिये दानके फलसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं है । विवेक और ज्ञानके विना उत्तम दान और उत्तम पात्रमें किस प्रकार हो सक्ता है ?

जंतं यंतं तंतं परिचरियं पक्खवायपियवयणं ।
पडुच्च पंचमकाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ॥२८॥

जंत्र मंत्र तंत्र हि प्रवृति, पक्षपात प्रियवैन ।
पढ़ूं काल पंचम भरत, दान मोक्ष कछु हैन ॥२८॥

अर्थ—यंत्र मंत्र और तंत्रकी सिद्धि और जनतामें अपनी प्रवृत्ति, पक्षपातकी सिद्धि और खुशामदका लक्ष रखकर इस भरतक्षेत्र पंचमकालमें जो दान दिया जाता है वह दान मोक्षका साधक (मोक्षफलका देनेवाला) नहीं होता है ।

दाणीणं दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ महाइसरियं ।
उहयाणं पुव्वजियकम्मफलं जाव होइ थिरं ॥२९॥

१–यन्त्र मंत्र और कुवासनाकी इच्छासे दान उत्तम फलका देनेवाला नहीं है । पक्षपातसे यद्वा तद्वा पात्र अपात्रमें दिया हुआ दान उत्तम फलको प्राप्त नहीं करता है । खुशामदसे मिथ्या-दृष्टी अपात्र अनायतनोंमें प्रदान किया हुआ दान संसारक बढ़ाता है । इसी प्रकार केवल मान प्रतिष्ठाके गौरवके लिये मिथ्यादृष्टी अपात्र और मिथ्या अनायतनमें दान देना संसारका कारण है ।

२५

दानीके दालिद्र किम, लोभी मह ईसत्व ।

दुहून पूर्वकृत कर्मफल, होत विपाक महत्व ॥२९॥

अर्थ---दानी पुरुषोंको दरिद्रता और लोभी पुरुषोंको महान विभवकी प्राप्ति होना अपने अपने पूर्वजनितकर्मोंका फल है । इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि जबतक पूर्वकर्मोंके फलका उदय है तबतक अपनी अवस्थापर हर्ष या ग्लानि नहीं करे और न यह विचार करे कि मैं धर्मसेवन करते हुये भी दरिद्र क्यों होगया और पापी पुरुष धनवान क्यों होगये ?

भावार्थ---धर्मका सेवन सदैव सुखका प्रदान करनेवाला है । दानका फल सदैव सुखकर है परन्तु पूर्वजनित पापकर्मोंका फल जो इस समयमें उदयरूप होरहा है उसके निमित्तसे दरिद्रता आदि सर्व दुखकर सामग्री प्राप्त होजाय तो उसके भोगनेमें शोक और विषाद क्यों करना चाहिये ? परन्तु भावपूर्वक धर्मका सेवन विशेषरूपसे करना चाहिये जिससे पाप कर्मोंका उदय पुण्यरूप होकर परिणमन करे ।

धणधण्णाइ समिद्धं सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं ।

मुणिदाणाइ समिद्धं सुहं तहा त विणा दुक्ख ॥३०॥

धनधानादि समृद्धि सुख, ज्यों सब जीवन होइ।
त्यों मुनिदानहिते सकल, सुख तिहि दुख विन जोइ ॥३०॥

अर्थ—जिस प्रकार धन धान्य आदि भोगोपभोग सामग्री और विभूतिसे सुखकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार समस्त प्रकारके परिग्रह और आरंभ रहित वीतराग मुनीश्वरोंके दानके फलसे समस्त प्रकारके सर्वोत्कृष्ट सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं।

पत्त विणा दाणं च सुपुत्त विणा बहुधनं महाखेत्तं।
चित्त विणा वयगुणचारित्तं णिकारणं जाणे ॥ ३१ ॥

पात्र विना दत्र सुपुत्त विन, बहुधन अर यह खेत।
चित्त विना वृतगुण चारित, जानि अकारन एत ॥३१॥

अर्थ—जिस प्रकार सुपुत्रके विना महान विभूति महल और अपार धन व्यर्थ है। इसी प्रकार सुपात्रके विना दान देना व्यर्थ है।

भावोंके विना व्रत तप और चारित्रका पालन करना व्यर्थ है,

सुपात्रमें स्वल्प भी दान वटके सूक्ष्म वीजके समान महान फलको प्रदान करता है, नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती इन्द्र धरणद्रेंकी अतुल विभूतिको प्रदान

करता है और क्रमसे मोक्षसुखको भी देता है। परन्तु अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान संसारका बढ़ानेवाला और घोर दुःखका देनेवाला होता है ॥

जिण्णुद्धारपत्तिट्ठा जिणपूजातित्थवंदण विसेय ।
धणं जो भुंजइ सो भुंजइ जिणदिट्ठं णरयगयदुक्खं ॥३०॥

(१) श्री भगवान कुंदकुंद स्वामीने यहांपर निर्माल्यसेवनका पाप नहीं बतलाया है किंतु एक मनुष्यने श्रीजिनेन्द्रभगवानकी नित्यपूजा यावच्चन्द्रदिवाकर सतत कायम रहनेके लिये पांच हजार रुपये धर्मार्थ दान किये और उसकी व्याजमें भगवानकी नित्य पूजा होती रहे ऐसी भावना की और इसीलिये दान किया, परन्तु कालान्तरमें उस रुपयाको हजम करजाना और भविष्यमें होनेवाली पूजाका विध्वंस करना सो इसप्रकार पूजा प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि धार्मिक आयतनोंका द्रव्य खाजाना और भविष्य में होनेवाले धार्मिक कार्यको विध्वंस करदेना सो यह सर्व नरकगतिका कारण है। पूजामें अष्ट द्रव्य चढ़ाने के बाद जो निर्माल्य द्रव्य होता है उसका फल तो पूजक भव्य पुरुषने भगवान की पूजा करते ही प्राप्त करलिया। उसीप्रकार प्रतिष्ठा आदि के लिये रखेहुए द्रव्यका फल भविष्यमें प्रतिष्ठा करते समय प्राप्तहोगा वह प्रतिष्ठा के लिये रखेहुए द्रव्य को खाजाने से नष्ट होगया और प्रतिष्ठा से होनेवाली प्रभावना भी नष्ट होगई इस प्रकार धार्मिक कार्यको कायम रखनेके लिये प्रदान कियेहुए दानको भक्षण करनेसे नरक की गति होती है। निर्माल्य भक्षण करनेसे केवल अंतरायकर्मका ही बंध होता है ऐसा श्रीवार्तिकमें कहा है इससे स्पष्ट है कि निर्माल्य भक्षणसे पूजा प्रतिष्ठा आदिका संरक्षित द्रव्य भक्षण करना महापाप है।

जिन उद्धार प्रतिष्ठा पूजा जिनकी करै। वंदन तीर्थ विशेष जास धनकौं हरै ॥
भूंजै भोग अज्ञान काज धर्म नहिं धरै। कहिउ जिनेश सो पुरुष नरकके दुख भरै ॥

अर्थ—श्रीजिनमन्दिरका जीर्णोद्धार, जिनविम्ब प्रतिष्ठा, मंदिर प्रतिष्ठा, जिनेन्द्र भगवानकी पूजा, जिनयात्रा, तीर्थयात्रा, रथोत्सव और जिनशासनके आयतनोंकी रक्षाके लिये प्रदान किये हुए दानको जो मनुष्य लोभ मोहवश ग्रहण करे, उससे भविष्यमें होनेवाले धर्मकार्यका विध्वंसकर अपना स्वार्थ सिद्ध करे तो वह मनुष्य नरकगामी महा पापी है ऐसा श्रीजिनराजने कहा है।

पुत्तकलित्तविदूरो दारिद्दो पंगु मूकवहिरंधो।
चंडालाइकुजादो पूजादाणाइदव्वहरो ॥ ३२ ॥

पुत्र कलित्र विना दलिद, पंगुमूकवहिरंध।
चांडालादि कुजाति हुइ, महदतधनहर मुंध ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजा प्रतिष्ठा तीर्थयात्रा आदिके लिये संरक्षित द्रव्यका अपहरण करता है वह पुत्र स्त्री आदि कुटुंब परिवारसे रहित होता है। दरिद्र पंगु मूक बहिरा अंधा होता है और चांडालादिक कुजातिमें उत्पन्न होता है।

इत्थीयफलं ण लब्भय जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियदं ।
वाहीणमायसेसो पूजादाणाइदव्वहरो ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजाके निमित्त प्रदान किये हुए द्रव्यका अपहरण करता है वह इच्छित फलको कदापि प्राप्त नहीं होता। उसके पुण्यका उदय कभी नहीं होता है। कदाचित इष्टवस्तुका संयोग प्राप्त हो जाय तो भी वह उसका फल भोग नहीं सकता।

गयहत्थपायणासिय कणउरंगलविहीणदिट्ठीए।
जो तिव्वदुक्खमुलो पूजादाणाइ दव्वहरो ॥ ३५ ॥

गत कर पद नासा कणव, जो अंगुलि दिठि हीन।
तीव्रदुक्खको मूल हुइ, पूजदान धनलीन ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजा प्रतिष्ठादिके निमित्त प्रदान किये हुए द्रव्यका अपहरण करता है वह हाथ पद (पैर) नासिका कर्ण अंगुलि आदि रहित हीनांग होता है। आंखोंसे अन्धा होता है और तीव्रतर दुःखको प्राप्त होता है।

खयकुंडमूलसूला लूयभयंदरजलोदराखिसिरो।
सीदुण्हवाहिराइ पूजादाणांतरायकम्मफल ॥ ३६ ॥

कुष्टसिरह क्षय मूल लूत जलोइभगंइ रुज।
वात पित्तकफमुल पूजदान अन्तरायफल ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य लोभ मोहके वश होकर श्रीजिनेन्द्रभगवानकी पूजाके निमित्त दान किये हुऐ द्रव्यका अपहरण कर पूजादि धार्मिक कार्योंमें अंतराय करता है, विघ्न करता है, पुण्योत्पादक कायका विध्वंस करता है वह क्षय कोढ़ शूल लूता जलोदर भगंदर गलकुष्टि वात पित्त कफ और सन्निपात आदि रोगोंकी तीव्रवेदनाको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिनशासन और धर्मायतनोंको उद्योत करने वाले पूजा प्रतिष्ठा रथयात्रा तीर्थयात्रादि धार्मिक कार्योंके लिये प्रदान किये हुऐ द्रव्यको वह धार्मिक कार्य होनेके प्रथमही अपहरण कर धार्मिक कार्यमें अंतराय करना अथवा धा क कार्योंकी व्यवस्थामें विघ्न करना, धार्मिक कार्योंमें दान देने वाले भाइयोंको रोकना, सुचारु रूपसे कार्य करने वाले धार्मिक कार्योंमें रोड़ा अटकाना, मन्दिरके छत्र चमर आदि

विभूतिका लोप करना मन्दिरकी द्रव्यसे आजीविका कर मन्दिरके कार्यको बंद करना आदि अनेक प्रकार पूजा और दानके कार्योंमें अंतराय करनेसे दुःख प्राप्त होता है।

णरइतिरियाइदुरइदारिद्दवियलंगहाणिदुक्खाणि।
देवगुरुसत्थवन्दणसुयभेयसज्झादाणविघणफलं ॥३७॥

अर्थ—जो मनुष्य देव-गुरु शास्त्रके उद्धार, वंदना और पूजा प्रतिष्ठा आदिके निमित्त होनेवाले दानमें अथवा प्रदान किये हुऐ दानमें, श्रुतकी वृद्धि पाठशाला विद्यालय और स्वाध्याय आदिके लिये दानमें विघ्न करता है उसको नरक तिर्यंच आदि दुर्गतिके दुःख और मनुष्यगतिमें दरिद्रता विकलांग तथा विविध प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं।

सम्मविसोही तवगुणचारित्तसण्णाणदानपरिधीणं।
भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं ॥ ३८ ॥

समकितसुध तपचरित्त, सतज्ञानदान परधान।
भरतकाल पंचममनुष, निह्चै उपज महान् ॥३८॥

अर्थ—इस दुस्सह दुःखम (कलिकाल) पंचमकालमें मनुष्योंके नियमपूर्वक

शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित तप व्रत अठाईस मूलगुण चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दान आदि सर्व होता है।

भावार्थ—भरतक्षेत्र पंचमकालमें अठाईस मूलगुण धारक तप व्रत और चारित्रके पालन करनेवाले मुनीश्वर होते हैं और शुद्धसम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले मुनीश्वर व गृहस्थ होते हैं।

णहि दाणं णहि पूया णहि सीलं णहि गुणं ण चारित्तं।
जे जइणा भणिया ते णरया हुंति कुमाणुसा तिरिया ॥३६॥

नहीं दान नहीं पूज नही शील गुणहि चरित्र।
भणिया ते नारकि कुमनु तिरजग होत परित्र ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिन जीवोंने मनुष्यपर्याय प्राप्त कर सुपात्रमें दान नहीं दिया, श्रीजिनेन्द्र भगवानकी पूजा नहीं की, शीलव्रत (स्वदारसंतोष—परस्त्रीत्याग) नहीं पालन किया, मूलगुण और उत्तरगुण पालन नहीं किये, चारित्र धारण नहीं किया और श्रीजिनेन्द्रदेवकी आज्ञा पालन नहीं की वे मनुष्य मर कर परलोकमें नारकी, तिर्यंच अथवा कुमनुष्य होते हैं।

ण विजाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च पुण्णपावं हि ।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को ॥ ४० ॥

काज अकाज न जानही श्रेय अश्रेय पुन्य पाप ।
तत्व अतत्व अधर्म धर्म सो समकित विन आप ॥४०॥

अर्थ—जो मनुष्य सम्यग्ज्ञानके साथ अपना कार्य अकार्य, अपना हित अहित, तत्त्व अतत्त्व, धर्म अधर्म और पुण्य पापको नहीं जानता है वह सम्यग्दर्शनसे रहित मिथ्यादृष्टी है ।

ण विजाणइ जोग्गमजोग्गं णिच्चमाणिच्चं हेयमुवदेयं ।
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउमुक्को ॥ ४१ ॥

जोग अजोगरु नित अनित, सत्य असत्य न जानि ।
हेय अहेय न भवि अभवि सो समकित विन मानि ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य योग्य अयोग्य, नित्य अनित्य, हेय उपादेय, सत्य असत्य संसार और मोक्षको नहीं जानता है वह सम्यग्दर्शनरहित मिथ्यादृष्टी है ।

लोइयजणसंगादो होइ मइमुहरकुडिलदुब्भावो ।
लोइय संगं तहमा जोइ वित्तिविहेण मुंचाहो ॥ ४२ ॥

लौकिक जन संघात मइ, मुखुर कुटिल दुरभाव ।
होइ संग ताते तजौ, मन वच तनकर जाव ॥ ४२

अर्थ—लौकिक मनुष्योंकी संगतिसे मनुष्य अधिक बोलनेवाले (वाचाल) वकड कुटिल परिणाम और दुष्ट भावोंसे अत्यंत क्रूर हो जाते हैं इसलिये लौकिक मनुष्योंकी संगतिको मन वचन कायसे छोड़ देना चाहिये ।

भावार्थ—धर्माचरण विहीन—नास्तिक मनुष्योंकी संगति और उनकी कुशिक्षा-से मनुष्य वाचाल हो जाते हैं । इससे वे पापकर्म–हिंसा झूंठ चोरी और व्यभिचार आदि अनीतिके कार्य करनेमें जरा भी नहीं हिचकते हैं बल्कि उस कुशिक्षाके प्रभव से पापकर्म करते हुए अपनी सफाई खूब बड़ाईके साथ पुकार पुकार कर गाते हैं । अपनेको जैन बतलाते हुए भी लौकिक जनकी संगतिसे जैनधर्मके विरुद्ध आचरण करते हैं । दुष्ट भावोंको रख कर अधर्मकी वृद्धि कर मिथ्यात्वको बढ़ाते हैं इसलिये लौकिक जनकी संगतिका परित्याग करना चाहिये ।

उग्गो तिव्वो दुट्ठो दुब्भावो दुस्सादो दुरालावो ।
दुमदरदो विरुद्धो सो जीवो सम्मउमुक्को ॥ ४३ ॥

उग्र तीव्र दुर्भाव दुठ दुःश्रुत दुर आलाप ।
दुरमत रत अविरुद्ध जिम सो विन समकित आप ॥४३॥

अर्थ—उग्र प्रकृतिवाले, तीव्र क्रोधादि प्रकृतिवाले, दुष्ट स्वभाववाले, दुर्भाववाले, मिथ्या शास्त्रोंके श्रवण करनेवाले, दुष्ट वचनके कहनेवाले, मिथ्याभिमानको धारण करनेवाले, आत्मधर्मसे विपरीत चलनेवाले और अतिशय क्रूर प्रकृतिवाले मनुष्य सम्यक्त्व रहित होते हैं।

खुद्दो रुद्दो रुट्ठो अणिट्ठपिसुणो सग्गत्थि असुइउ ।
गायणजायणभंडनदुस्सणसीलो दु सम्मउमुक्को ॥४४॥

क्षुद्र रुद्र रोषी पिशुन गरवी निंद्य अनिष्ट ।
गायण जाचक दोषकथ भंडन समकित नष्ट ॥ ४४ ॥

अर्थ—क्षुद्र प्रकृतिवाले, रुद्रपरिणामी, क्रोधी, चुगुलखोर, कामी, गर्विष्ठ, असहनशील, द्वेषी, गायक, याचक, लड़ाई झगड़े करनेवाले, दूसरोंके दोषोंको प्रकट करनेवाले, निंद्य पापाचारी और मोही मनुष्य सम्यक्त्वरहित होते हैं।

वाणरगद्दहसाणगयावग्घवराहकराह ।
पक्खिजलूयसहाव णर जिणवरधम्मविणासु ॥४५॥

वानर गर्दभ अरु महिष गज वाघ वराह कराह ।
पक्षि जलूक स्वभावनर जिनवर धर्म न ताह ॥ ४५ ॥

अर्थ—बंदरके स्वभाववाले, गदहाके स्वभाववाले, भैंसा हाथी वाघ शूकर कक्षप पक्षी जलूकादि स्वभाववाले मनुष्योंके श्रीजिनेन्द्रदेवका धर्म धारण नहीं होता है ।

कुतवकुलिंगकुणाणी कुवयकुसीलकुदंसणकुसत्थो ।
कुणिमित्त संथुय थुइ पसंसणं सम्महाणि होइ णियमं ॥ ४६ ॥

अर्थ—मिथ्यातपश्चरण करनेवाले, कुत्सित भेषको धारण करनेवाले, मिथ्याज्ञानकी आराधना करनेवाले, कुत्सित व्रताचरणोंको पालन करनेवाले, कुशीलसेवन करनेवाले, मिथ्यादर्शनके भाववाले, मिथ्याशास्त्रोंका पठन पाठन और स्वाध्याय करनेवाले, कुत्सित आचरण करनेवाले, मिथ्याधर्म, मिथ्यादेव और कुगुरुकी प्रशंसा करनेवाले मनुष्य सम्यक्त्वरहित होते हैं । उनके नियमपूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता है ।

सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण ।
तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणक्किट्ठमिदि जिणुदिट्ठं ॥४७॥

समकित विन सतज्ञान सतचारित नियत न जोय ।
रत्नत्रय सम्यकगुण जिनकहि उत्तम होय ॥४७॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नियमपूर्वक नहीं होते हैं। जिसके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय है उसके ही सम्यक्त्व गुण प्रशंसनीय हैं ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवानने कहा है।

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा ।
दाणाइ सुगुणभंगं गइभंगं मिच्छसेव हो कट्ठं ॥ ४८ ॥

तनकुष्ठी कुलभंग ज्यों करै जथा ज्यों जानि ।
त्यों दानादिक सुगुण बहु करै मिथ्याती हानि ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोढ़ी रोगवाला मनुष्य कुष्टके कारण अपने कुलको नष्ट करता है ठीक इसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव दान पूजा-चारित्र और धर्मायतनोंका विध्वंस करता है इसलिये मिथ्यात्वका सेवन करना विशेष दुःखका प्रदान करनेवाला है।

मिथ्यात्वसे समस्त आत्मीयगुण नष्ट हो जाते हैं और सच्चे देव शास्त्र गुरु तथा धर्माचरणोंसे विपरीत भाव हो जाते हैं। इसलिये मिथ्यात्वका सेवन करना संसारके दुखोंका ही कारण है।

देवगुरुधम्मगुणचरित्तं तवायारमोक्खगइभेयं।
जिणवयणसुदिट्ठिविणा दीसइ किह जाणए सम्मं ॥४९॥

देव धरम गुरु गुण चरित शुभ तप शिव गति भेव।
जिनवर वचन सुदिष्टि विन अंधक सम्यक वेव ॥४९॥

अर्थ—सम्यक्दर्शनके विना देव गुरु धर्म क्षमादिक गुण, चारित्र तप मोक्ष मार्ग-तथा श्री जिनेन्द्र भगवानके वचन (जिनवाणी) को नहीं मानते हैं।

भावार्थ—जिनके सम्यग्दर्शन नहीं है उनके देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान भी नहीं है। तथा व्रत तप चारित्र और मोक्ष मार्गभी नहीं होता है।

एक्कु खणं ण विचिंतेइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसाहावं।
अणिसं विचित्तपावं बहुलालावं मणे विचिंतेइ ॥ ५० ॥

खिन न चिंतय शिव निमित्त निज आतम सदभाव ।
अह निश चिन्तय पाप बहु मन चिन्तइ आलाव ॥५०॥

अर्थ— मिथ्यादृष्टी जीव एक क्षणमात्रभी मोक्षकी सिद्धिके लिये अपने आत्मस्वरूपका चिंतवन नहीं करता है, परंतु रात्रि दिवस पापके कार्योंका बारबार विचार करता है तथा परवस्तुकी निरंतर अभिलाषा करता है।

मिच्छामइमयमोहासवमत्तो बोलए जह भुल्लो ।
तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्मभावाणं ॥ ५१ ॥

मिथ्या मति मदमोहतैं भुल्ल वकत जिम मत्त ।
तैसे जानत नांहिं निज अरु समभावहि तत्त ॥ ५१ ॥

अर्थ -मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्याबुद्धिके अभिमानसे मदोन्मत्त होकर मदिरा पानकरने वाले भुल्लड़ मनुष्यके समान यद्वा तद्वा मिथ्या प्रलाप करते हैं। परंतु वे मोहके उदयसे अपनी आत्माको नहीं जानते हैं और आत्माके समताभावको सर्वथा नहीं जानते हैं ॥

मिहरो महंधमारं मरुदो मेहं महावणं दाहो ।
वज्जो गिरिं जहाविय सिंज्जइ सम्मं जहाकम्मं ॥५२॥

महाअंध्यारो रवि मरुत मेघ महावन दाह ।
पर्वत वज्र विनाशए समकित धर्म अपाह ॥५२॥

अर्थ–जिससप्रकार सूर्य अंधकारको तत्काल नष्ट कर देता है । वायु मेघका नाश करती है । दावानल वनको जला देता है । वज्र पर्वतोंको भेदन (चूर्ण) करदेता है उसी प्रकार एक सम्यक्त्व समस्त कर्मोंको नाश कर देता है ।

मिच्छंधयाररहियं थियमज्झं मिव सम्मरयणदीव कलावं ।
जो पज्जलइ स दीसइ सम्मं लोयत्तयं जिणुदिट्ठं ॥५३॥

पखि अंध्यारे गेह मधि दीपकला परगास ।
समकित नग प्रज्वले दिपै तीन लोक जिन भास ॥५३॥

अर्थ– जो धर्मात्मा अपने हृदय-मंदिरमें सम्यक्त्वरत्नरूपी दीपक प्रज्वलित करता है उसको त्रिलोकके समस्त पदार्थ स्वयमेव प्रतिभासित होते हैं ।

कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं य समं ।
लद्धो भुंजइ सोक्खं जहच्छियं जाण तह सम्मं ।। ५४ ।।

कामदुधा तरुकल्प रससार रसायण चिंत।
मणि लाभै सुख भुंजए इच्छित जिमि सम दिंत ।।

अर्थ---जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिंतामणि रत्न और रसायणको प्राप्त कर मनवांच्छित उत्तमसुखको प्राप्त होता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शनसे भव्य जीवोंको सर्वप्रकारके सर्वोत्कृष्ट सुख और समस्त प्रकारके भोग्योपभोग स्वयमेव प्राप्त होजाते हैं ।।

कतकफलभरियणिम्मल ववगय कालिया सुवणञ्च ।
मलरहियसम्मजुत्तो भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं ।। ५५ ।।

अथ—जिस प्रकार कतक (निर्मली) के संयोगसे जल निर्मल होजाता है । अग्नि तथा रसायणके बलसे सुवर्ण किट्टिमा रहित निर्मल होजाता है । उसी प्रकार सम्यग्दर्शनसे यह जीव समस्त प्रकारके कर्ममल रहित शुद्धस्वभावको प्राप्त हो जाता है और उसको सहज लीलामात्रमें ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

पुव्वट्ठियं खवइ कम्मं पइसुदु णो देइ अहिणवं कम्मं ।
इहपरलोयमहप्पं देइ तहा उवसमो भावो ॥ ५६ ॥

पूरव थित खँपै करम नव नहिं देत प्रवेश ।
देय महातम लोक द्वय उपसम भाव नरेश ॥ ५६ ॥

अर्थ–भव्य जीवोंको उपशम भाव पूर्ववद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता है । (पूर्ववद्ध कर्मोंकी स्थितिका क्षय करता है) और नवीन कर्म बंध होने नहीं देता हैं (नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं होता है) इसलिये उपशमभाव दोनों लोकमें अपूर्व माहात्म्य प्रगट करता है ।

सम्माइट्ठी कालं बोलइ वेरग्गणाणभावेण ।
मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्सकलहेंहि ॥५७॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुष समयको वैराग्य और ज्ञानसे व्यतीत करते हैं । परंतु मिथ्यादृष्टी पुरुष दुर्भाव आलस और कलहसे अपना समय व्यतीत करते हैं ।

अज्जविसप्पिणि भरहे पउरा रुद्दट्ठआणया दिट्ठा ।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पायिट्ठा किण्णणीलकाऊदा ॥ ५८ ॥

आज भरत अवसव सरपिणी प्रचुरातैं अतिरुद्र।

नष्ट दुष्ट पापिष्ट कठ त्रयलेश्या जुत छुद्र ॥ ५८ ॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्र अवसर्पिणी पंचमकालमें दुर्ध्यानी रुद्रपरिणामी कृष्णादि अशुभ लेश्याके धारक क्रूर स्वभाव वाले नष्ट दुष्ट पापिष्ट और कठोर भावोंको धारण करनेवाले अधिक मनुष्य उत्पन्न होते हैं ॥

अज्जविसप्पिणि भरहे दुस्ससया मिच्छपुव्वया सुलया।
सम्मत्तपुव्वसायारणयारा दुल्लहा होंति ॥ ५९ ॥

अवसर्पिणि दुःखम भरत सुलभ पूर्वमिथ्यात।

समकित पूरव जति गृही दुर्लभ धर्म विख्यात ॥ ५९ ॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्र अवसार्पिणी पंचमकालमें मिथ्यात्वी मनुष्य अधिक हैं। परंतु सम्यग्दृष्टी मुनीश्वर और गृहस्थ दुर्लभ हैं।

भावार्थ—जैनधर्मको धारण करनेवाले धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी गृहस्थ और मुनीश्वर अत्यन्त दुर्लभ हैं। मिथ्यामतको धारण करनेवाले मिथ्यात्वी अधिक हैं—सुलभता से प्राप्त होते हैं।

अज्जविसप्पिणि भरह धम्मज्झाणं पमादरहियमिदि।
जिणुदिट्ठं णहु मुणइ मिच्छादिट्ठी हवे सोहु ॥ ६० ॥

अवहू अवसर्पिणि भरत विन प्रमाद धर्मध्यान।
होत यह विधि जिन कह्यो जो कुदृष्टि नहिं मान ॥६०॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्र अवसर्पिणी पंचमकालमें श्रीमुनीश्वरोंके प्रमाद रहित धर्मध्यान होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है। जो इसको नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है।

भावार्थ—अप्रमाद अवस्था सातवें गुणस्थानमें होती है। भरतक्षेत्र पंचमकालमें सातवें गुणस्थानवर्ती मुनीश्वरोंके प्रमाद रहित धर्मध्यान नियम पूर्वक होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवानने परमागममें कहा है। जो जैनी इस पंचमकालमें सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिधर्म (मुनीश्वरोंका अस्तित्व) तथा प्रमाद रहित धर्मध्यानको नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है, जैनधर्मसे वहिर्भूत है।

असुहादो णिरयादो सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।
दुहसुहभावं जाणइ जं ते रुच्चे दणं कुणहो ॥ ६१ ॥

अशुभभावतैं नरकगति शुभै सुरग सुख आव ।
दुखसुख भावह जानि तुव रुचै सु करि अनुराव ॥६१॥

अर्थ---अशुभभावसे नरकादि दुर्गति होती है । शुभ भावोंसे स्वर्गके अनुपम सुख प्राप्त होते हैं । दुःख और सुखकी प्राप्ति अपने शुभाशुभ भावों पर ही निर्भर है । हे भव्य आत्मन् ! जो तुझको अच्छा मालूम होता हो वह कर ।

भावार्थ---अशुभ भाव करेगा तो दुःख होगा । शुभ भाव करेगा तो सुख होगा इसलिये अशुभ भावोंका त्याग कर ।

हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छाणाणे सु पक्खवाएसु ।
मच्छरिएसु मएसु दुरिहिणवेसेसु असुहलेसेसु ॥६२॥
विकहाइसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु ।
सलेसु गारवेसु जाएसु जो वट्टइए असुहभावो ॥ ६३ ॥

हिंसादिक क्रोधादि अरु मृषा ज्ञान पक्षपात ।
अभिनिवेश दुर्मद मच्छर अशुभ लेसि विख्यात ॥६२॥

विकथादिक दुर्ध्यान असय रौद्र परिणाम।

शल्य गारव ख्याति में अशुभ भाव मद काम ॥६३॥

अर्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, और पापाचरणरूप परिणाम, क्रोधमान माया लोभ मोह रूप परिणाम, मिथ्याज्ञान,पक्षपात, सप्ततत्त्वोंके परिज्ञानमें संशय विपरीत और अनध्यवसायरूप परिणाम, मत्सरभाव, अशुभलेश्या विकथादिक प्रवृत्तिरूप परिणाम, आर्त्त रौद्र परिणाम, असूय परिणाम (दूसरेके गुणोंको सहन नहीं होनेके भाव) निंद्य परिणाम, मिथ्या माया निदान शल्ययुक्त परिणाम, रसगारव आदि अपनी पूजा प्रतिष्ठा कीर्ति मानबडाईके परिणाम इत्यादि अनेक प्रकारके दुर्भाव अशुभ भाव हैं।

भावार्थ—जिन कारणोंसे जीवोंके परिणामोंमें रागद्वेषकाम क्रोध मोह आदि विकार हों, अथवा राग द्वेष रूप विकारी परिणाम हों उनको अशुभ भाव कहते हैं।

दव्वत्थकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु।
बंधणमुक्खे तक्कारणरूये वारसणुवेक्खे ॥६४॥
रयणत्तयस्स रूवे अज्जाकम्मो दयाइसद्धम्मे।
इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥ ६५ ॥

अस्तिकाय पण द्रव्य षट् तत्व सात नव भाव ।
बंध मोक्ष कारण सरुव द्वादश भावन ध्याव ॥६४॥
रत्नत्रयहि स्वरूप अरु आरिज दयादि धर्म ।
एसे मारग वर्तई सो शुभ भाव सुसर्ग ॥६५॥

अर्थ—पंच अस्तिकाय, छहद्रव्य, सात तत्व, नव पदार्थ, बंधमोक्ष, दयाक्रोध, बारह भावना, रत्नत्रय, आर्जवभाव क्षमाभाव और सामायिकादि चारित्रमय जिन भव्य जीवोंके भाव हैं, वे शुभ भाव हैं।

सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गइं णियमा ।
इदि जाण किमिह बहुणा जंते रुचेइ तं कुणहो ॥ ६६ ॥

समकित गुणतैं शुभसुगति दुर्गति देव मिथ्यात ।
यह जानि भव्य जो रुचै करहु नियम अवदात ॥ ६६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जीवोंको नियमसे शुभगति होती है और मिथ्यात्वसे नियम पूर्वक दुर्गति होती है इसलिये हे भव्य! तुझको जो अच्छा लगे वह कर, अधिक क्या कहें।

मोह ण छिज्जइ अप्पा दारुण कम्मं करेइ बहुवारं।
णहु पावइ भवतीरं किं बहु दुक्खं वहेइ मूढमई ॥ ६७॥

मोहक्षय जिय नहीं करे करे पाप बहुवार।
नहिं पावे भवपार किम सहिहैं दुक्ख गंवार ॥ ६७ ॥

अर्थ--यह आत्मा मोहका क्षय तो करता नहीं है और अपने मन वचन कायसे कठिन कार्यों (व्रततपश्चरण आदि) को बार बार करता है क्या इससे संसार समुद्रसे पार होगा ? व्यर्थ ही मूर्ख दुःखोंको सहन करता है।

धरियउ बाहिरलिंगं परिहरियउ बाहिरक्खसोक्खं हि।
करियउ किरियाकम्मं मरिउ जमिउ वहिरप्पजिय ॥ ६८ ॥

द्रव्यलिंग धरि परिहरयो बाहिज इन्द्रिय सुख।
क्रिया करम करि मरि जनम, वहिरातम सहदुःख ॥ ६८ ॥

अर्थ--द्रव्यलिंग [सम्यक्त्वरहित जिनलिंग मुनि अवस्था] को धारण कर और प्रकट रूपसे इन्द्रियोंके बाह्य सुखका परित्याग कर अनेक प्रकारके कठिन व्रताचरण किये परन्तु फिर भी वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव जन्म मरणके दारुण दुखोंको प्राप्त होता

है रहा, एक सम्यग्दर्शनके विना जिनलिंग भी संसारका नाश नहीं कर सकता है।

मोक्खणिमित्तं दुक्खं वहेइ परलोयदिट्ठितणुदिट्ठी।
मिच्छाभाव ण छिज्जइ किं पावइ मोक्खसोक्खं हि॥ ६९॥

मोक्ष निमित्त दुख वहे तन दण्डी दिट्ठि परलोक।
मिथ्याभाव न छीजइ किम पावइ शिव थोक॥६९॥

अर्थ--मिथ्यादृष्टी वहिरात्मा जीवने मोक्षकी प्राप्तिके लिये वार वार अनेक प्रयत्न किये और व्रततपश्चरणके द्वारा शारीरिक अनेक कष्ट भी सहन किये परंतु मिथ्या भावोंका परित्याग नहीं किया इसलिये यह अज्ञानी आत्मा मोक्षके सुखको किस प्रकार प्राप्त कर सक्ता है?

ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं।
सप्पो किं मुवइ तहा वम्मिउ मारिउ लोए॥ ७०॥

नहिं दंडे क्रोधादि तन दंड खिपे किम कर्म।
तैसें नाग कहा मुवे लोक वंबि हन भर्म॥ ७०॥

अर्थ---हे वहिरात्मन्! तू क्रोध, मान, मोह आदि दुर्भावोंका त्याग (दंड) नहीं

करता है और व्रत तपश्चरण आदिके द्वारा शरीरको दंड [कष्ट] देता है इससे तेरे कर्म नष्ट हो जायंगे क्या? कदापि नहीं। क्योंकि सर्पके बिलको मारनेसे सर्प नहीं मरता है।

उपसम भवभावजुदो णाणी सो भावसंजुदो होई।
णाणी कसायवसगो, असंजदो होइ सो ताव॥ ७१॥

उपशम तप भावह जुगत तावत संजम ज्ञान।
ज्ञानी भयो कषाय वश ताव असंजम थान॥ ७१॥

अर्थ—उपशम भावसे व्रत तपश्चरण चारित्र आदि धारण किये जांय, तो वे समस्त संयमभावको प्राप्त हैं। परन्तु, कषायके वश व्रत तपश्चरण धारण किये जांय तो भी वे असंयमभावको ही प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवोंके उपशमभावसे जबतक व्रतादिक होते हैं तबतक उनके संयम भाव होता है और अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता महाज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानके अभिमानमें कषायोंसे व्रतादिकको धारण करता है परंतु भावोंमें कलुषित परिणाम होनेसे असंयत भाव ही रहते हैं।

णाणी खवेइ कम्मं णाणवलेणेदि सुबोलए अण्णाणी ।
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥ ७२ ॥

ज्ञानी खेपै ज्ञानवल कर्म न मान अज्ञान ।
पीजै भेषज ज्ञान यह व्याधि नाश इति मान ॥ ७२ ॥

अर्थ---ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानके वलसे कर्मोंको नष्ट कर देता है ऐसा जो कहता है सो अज्ञानी है क्योंकि विना चारित्रके अकेले ज्ञानसे कभी कर्म नष्ट नहीं हो सकते। मैं सब औषधियोंको जानता हूं मैं एक अच्छा वैद्य हूं, ऐसा कहनेमात्रसे क्या व्याधियां नष्ट हो जाती हैं ? कभी नहीं।

भावार्थ--जिसप्रकार रोग और औषधिके जानने मात्रसे व्याधि दूर नहीं होती उसी प्रकार अकेले ज्ञानसे कर्म नष्ट नहीं होते किंतु, जैसे औषधिको घोट छानकर पीनेसे व्याधि नष्ट होती है उसी प्रकार चारित्रसे कर्म नष्ट होते हैं।

पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं ।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं ॥ ७३ ॥

मिथ्यामल शोधन प्रथम समकित भेगज सेव ।
पीछे सेवइ करम रुज नाशन चारित हेव ॥

अर्थ—भव्य जीवोंको सबसे प्रथम मिथ्यात्वरूपी मलका शोधन सम्यक्त्वरूपी रसायनसे करना चाहिये। पुनः चारित्ररूपी औषधका सेवन करना चाहिये। इस-प्रकार आचरण करनेसे कर्मरूपी रोग तत्काल ही नियमपूर्वक नाश हो जाता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान और चारित्र निष्फल हैं कर्मोंका नाश सम्यक्चारित्रसे ही होता है। यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र है तो कर्मोंके नाश होनेमें कुछ भी विलंब नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर भी जबतक सम्यक् चारित्र पूर्ण-रूपसे प्राप्त नहीं है तबतक कर्मोंका नाश कदापि नहीं होगा और मिथ्यात्वके साथ चारित्र धारण किया जाय तो केवल संसारका ही वर्द्धक है कर्मोंका नाश करने वाला नहीं है। इसलिये सबसे प्रथम मिथ्यात्वका नाश कर चारित्र धारण करना चाहिये।

अण्णाणी विसयविरत्तादो होइसयसहस्सगुणो ।
णाणी कसायविरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ॥ ७४ ॥

अज्ञानी विषयविरत अरु कषाय विन होय।
तातैं ज्ञानी विषय जुत जिन कहि लख गुन सोय ॥ ७४ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी (अज्ञानी) जीव विषय और कषायोंसे विरक्त होक फल प्राप्त करता है सम्यग्दृष्टी जीव विषय कषायोंको सेवन करते हुए भी उससे लाख गुणा फल अनायास ही प्राप्त कर लेता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवानने कहा है।

भावार्थ—विषय कषायको सेवन करते हुए भी सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको मिथ्यादृष्टी जिनलिंग धारीकी अपेक्षासे असंख्यात गुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है। प्रथम तो मिथ्यादृष्टीको कर्मोंकी निर्जरा ही होती नहीं है कदाचित् वह मिथ्यादृष्टी मोहनीय कर्मके मंदोदयसे श्री जिनेंद्र भगवान कथित चारित्रको धारण कर लेवे और समस्त प्रकारकी विषय कषायका परित्याग कर देवे तो भी कर्मोंकी निर्जरा मिथ्यादृष्टीको नहीं होती है। हां, पुण्यकी प्राप्ति अवश्य ही होती है, इसलिये मिथ्यादृष्टीका विषय कषायोंका परित्याग कार्यकारी नहीं है और सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको विषय कषायका सेवन संसारके बंधका कारण सर्वथा नहीं है।

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विणा णेहं।
चागो वेरग्ग विणा एदं दो वारिया भणिया ॥ ७५ ॥

विनय भक्ति विन रुदन त्रिय विना नेह ज्यों कोय ।
त्यों गृहत्याग विराग विन दुष्चरित यह होय ॥ ७५ ॥

अर्थ—भक्तिके विना विनय, स्नेहके विना स्त्रियोंका रुदन, वैराग्य भावके विना त्याग, यह सव विडंवना है ।

भावार्थ—भक्तिके विना विनय करना छल वा विडंवना है, प्रेमके विना स्त्रियोंका रोना विडंवना है, उसीप्रकार वैराग्य उत्पन्न हुए विना घरका त्याग कर दना केवल विडंवना है ।

सुहडो सूरत्त विणा महिला सोहग्गरहियपरिसोहा ।
वेरग्ग णाणसंजमहीणा खवणा ण किं वि लब्भंते ॥७६॥

सुभट शक्ति विन कामिनी विन सोहाग सोभंत ।
संजम ज्ञान निराग विन, ज्यों मुनि कछु न लहंत ॥ ७६ ॥

अथ—शूरवीर शक्तिके विना, स्त्री सौभाग्यके विना जिस प्रकार कार्यकारी नहीं है उसी प्रकार संयम ज्ञान और वैराग्यके विना मुनीश्वर भी यथेष्ट सिद्धि नहीं प्राप्त करता है ।

भावार्थ—संयम ज्ञान और वैराग्य भावनासे ही मुनीश्वर मोक्षकी सिद्धि कर सक्ते हैं।

वत्थुसमग्गो मूढो लोहिय लहिए फलं जहा पच्छा।
अण्णाणी जो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चेव ॥ ७७ ॥

वस्तुपूर लोभी मुगध, जो पीछे फल लेत।
जो अज्ञान विषयां रहित लाभइ जानहु एत ॥ ७७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मूर्ख लोभी पुरुष समस्त प्रकारकी वस्तुकी परिपूर्णता होने पर उसका फल भोग नहीं सक्ता है। ठीक उसी प्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टी पुरुष विषयोंसे रहित होने पर भी उसका फल प्राप्त नहीं कर सक्ता है।

भावार्थ—समस्त सामग्री और भोगोपभोग साधनोंका समागम प्राप्त होनेपर लोभी मनुष्य उनका भोग नहीं करता है किंतु लोभसे वह पापोंका ही संग्रह करता है। ठीक इसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव व्रत तपश्चरण आदि कर उसके फलसे संसारकी वृद्धि ही करते हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीवोंका तपश्चरण भी पापका ही कारण है।

वत्थुसमग्गो णाणी सुपत्तदाणी फलं जहा लहइ।
णाणसमग्गो विसयपरिचत्तो लहइ तहा चेव ॥ ७८ ॥

वस्तु सहित ज्ञानी सुपत दान जथा फल लेत।
ज्ञान सहित विपया रहित लाभइ लाजहु एत ॥ ७८

अर्थ—सम्यग्दृष्टी ज्ञानी पुरुष धन संपत्ति और वैभवको सुपात्रमें दान कर चक्रवर्ती तीर्थंकर इन्द्र नागेन्द्रके पदको प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी विषय कषायोंसे विरक्त होकर और चारित्रको धारण कर मोक्षको उसी भवसे प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी पुरुष सुपात्र दानके फलसे इन्द्र चन्द्र आदिके उत्तम पद प्राप्त कर कितने ही भवमें मोक्षको प्राप्त करते हैं और सम्यग्ज्ञानी पुरुष चारित्रको धारण कर उसीसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी पुरुषके सभी कार्य आलौकिक हैं।

भूमहिला कण्णाइ लोहाहि विसहरं कहं पि हवे।
सम्मत्तणाणवेरग्गो सहमंतेण जिणुद्दिट्ठं ॥ ७९ ॥

भू स्ववरण तिय लोम अहि विषहारनु किम होइ।
सम्यक ज्ञान विराग सह मंत्र जिनोकत सोइ ॥७९॥

अर्थ—भूमि (राज्य) महल आदिकी प्राप्ति, स्त्री कन्या आदिका लाभ और सर्प विच्छू आदिके विषोंके निवारणके लिये एक सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान तथा वैराग रूपी अमोघ मंत्र ही फल प्रद है ऐसा श्री जिनेन्द्र देवने कहा है।

पुव्वं जो पंचेंदियतणुमणुवचि हत्थपायमुंडाउ।
पच्छा सिरमुंडाउ सिवगइ पहणायगो होइ ॥ ८० ॥

प्रथम पंचेन्द्रिय मन वचन, तन कषाय हरतपद मुंड।
पीछे सिर मुंडन करहु तिय शिव होइ अखंड ॥ ८० ॥

अर्थ—सबसे प्रथम अपनी पांचों इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये। फिर क्रम से अपने मन वचन काय और हाथ पाद आदिको वश करना चाहिये। पीछे शिरका मुंडन करना चाहिये। इससे भव्य जीवोंको मोक्षमार्गकी प्राप्ति शीघ्रही होती है।

भावार्थ—प्रथम अपने भावोंमें सम्यक्त्वपूर्वक जिनदीक्षा धारण कर पुनः क्रमसे वैराग्य और ज्ञान भावनासे मन वचन काय और पांचो इन्द्रियको वश करना चाहिये। भावचारित्र और द्रव्यचारित्रके द्वारा संवरको प्रकटकर नवीन कर्मोंके आश्रवको रोकना चाहिये। यदि भावदीक्षा है तो द्रव्यदीक्षा उपयोगी है यदि भावदीक्षा

नहीं है केवल द्रव्यदीक्षाहीको लाभकारी और उत्तम समझना भ्रम है । परन्तु इसका यहभी अभिप्राय नहीं है कि केवल भावदीक्षासे मोक्षकी सिद्धि हो जायगी फिर द्रव्य दीक्षा धारण करनेकी क्या आवश्यकता है! द्रव्य दीक्षा [जिनलिंग] धारण किये विना भावदीक्षा सर्वथा कार्यकारी नहीं है। इसीलिये मोक्षमार्गकी सिद्धि द्रव्य दीक्षापर ही अवलंबित है । द्रव्यदीक्षा धारण करनेपर भावलिंग हो सकती है परंतु केवल भावलिंग द्रव्यलिंगके विना कुछ भी उपयोगी नहीं है ।

पतिभत्तिविहीणं सदी भिच्चोय जिणसमयभत्तिहीण जई ।
गुरुभत्तिविहीण सिस्सो दुग्गई मग्गाणुलग्गणो णियमा ॥

वाम भक्ति पतिभक्ति बिन जिनश्रुति भक्ति न जैन ।
गुरु भक्ति विन सिश्च लग जिय दुरगति गत ऐन ॥ ८१ ॥

अर्थ—पतिकी भक्तिसे रहित स्त्री स्वामीकी भक्तिसे रहित सेवक, श्रुत (शास्त्र) की भक्तिसे रहित यतिराज और गुरुकी भक्तिसे रहित शिष्य निंद्य व दुर्गतिका पात्र है

गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं ।
ऊसरछेत्ते ववियं सुबीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं ॥ ८२ ॥

गुरुन भक्ति विन शिव करन सर्व संग विरतानि ।
ऊसर धरि बय वीस सम नेष्ठा वंशुजानि ॥ ८२ ॥

अर्थ---यदि सर्व प्रकारके बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहसे रहित शिष्य यतीश्वरोंमें गुरु (श्री आचार्य परमेष्ठी) की भक्ति नहीं है तो उनकी सर्व क्रियाएं ऊपर भूमिमें पतित अच्छे बीजके समान व्यर्थ हैं ।

भावार्थ--जिस प्रकार उत्तम बीज भी यदि ऊषर भूमिमें बो दिया जाय तो वह व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है और बोनेवाला का श्रम भी व्यर्थ जाता है । इसी प्रकार यदि गृह परिवार आदि सर्व परिग्रह छोड़कर नग्न तनको धारण कर अनेक प्रकारका कठिन तपश्चरण किया परंतु गुरुभक्ति (पंच परमेष्ठी और जिनागम जिनधर्म जिन-चैत्य जिन चैत्यालय इस प्रकार नव देवकी भक्ति) नहीं है तो सर्व श्रम करना व्यर्थ है ।

रज्जं पहाणहीणं पतिहीणं देसगामरट्ठ बलं ।
गुरुभत्तिहीण सिस्सा णुट्ठाणं णस्सदे सव्वं ॥ ८३ ॥

विन प्रधान राजा नगर देश राष्ट्र बल हीन ।
गुरु भक्ति विन सिष तस नेष्टा हुई सब छीन ॥ ८३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रधान रहित राज्य और स्वामी रहित देश ग्राम संपत्ति सैन्य आदिकी विभुता निरुपयोगी है, व्यर्थ है उसी प्रकार गुरुकी भक्तिसे रहित शिष्यगणोंके सब आचरण व्यर्थ हैं।

सम्माणविणय रुई भत्तिविणा दाण दयाविणा धम्मं ।
गुरुभत्तिविणा तवचरियं णिफ्फलं जाण ॥ ८४ ॥

विनय भक्तिसनमान रुचि विन दत दया विन धर्म ।
तप गुन गुरुकी भक्ति विन निरफल चारित कर्म ॥ ८४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सन्मानके विना रुचि वा प्रेम नहीं होता. भक्तिके विना दान नहीं दिया जाता और दयाके विना धर्म नहीं होता उसी प्रकार गुरुकी भक्तिके विना चारित्रका पालन करना व्यर्थ है।

हाणादाण वियारविहीणादो वाहिरक्खसुक्खं हि ।
किं तजियं किं भजियं किं मोक्खु दिट्ठं जिणुदिट्ठं ॥ ८५ ॥

हीनादान विचार विन वाहिज इंदिय सुख ।
कहा तजै अरु भजै कहा जो नहीं शिव सनमुख ॥ ८५ ॥

अर्थ---कौनसी वस्तु ग्रहण करने योग्य है और कौनसी वस्तु त्याज्य है इस प्रकार आत्महितके लिये सम्यक् विचार कर एवं संसार शरीर भोगोपभोग पदार्थोंसे विरक्त होकर जो जिनलिंगको धारण कर तपश्चरण [ध्यान] करता है वह मोक्षके सुखका अधिकारी है। सत् असत् योग्य अयोग्य हित अहित ग्राह्य अग्राह्य वस्तुके विचार रहित केवल वाह्य सुखका परित्याग करनेसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति नहीं होती है।

भावार्थ---जिनको आत्माका परिज्ञान है स्वानुभव है और जिन्होंने भेद विज्ञान द्वारा आत्मीय और अनात्मीय वस्तुका विचार कर आत्मीय क्षमा मार्दव आदि गुणोंको धारण कर पर पदार्थ अनात्मीय कर्म चेतन और कर्म फल चेतनाका परित्याग कर दिया है तथा संसारके स्वरूपको हेय व दुखकारी समझकर वैराग्यभावसे जिन लिंगको धारण कर कठिन व्रत तपश्चरणके द्वारा कर्ममलको दूर कर दिया है वे ही मोक्ष सुखके अधिकारी हैं। किंतु जिनको आत्मज्ञान नहीं है न हेयाहेयका विचार है केवल वाह्य सुखका त्यागकर साधु बन गये हैं वे कठिन तपश्चरण करने पर भी मोक्ष सुखके कदापि अधिकारी नहीं हैं। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके साथ साथ जो जिनलिंगको धारण कर तपश्चरण करते हैं वे ही शिव सुखको प्राप्त होते हैं।

कायकलेसुववासं दुद्धरतवसरणकारणं जाण।
तं णियसुद्ध सरूवं परिपुण्णं चेदि कम्मणिम्मूलं ॥८६॥

दुद्धर तप उपवास सब कायकलेश हि जान।
जो रुचि निजशुद्ध आतमा सर्वकर्म क्षयमान ॥ ८६ ॥

अर्थ—जो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें अपने आत्मभावोंकी परिणति है तो दुद्धर तपश्चरण और विविध प्रकारके उपवास आदिके द्वारा कायक्लेश करना कर्मोंके नाश का कारण है।

भावार्थ—जिनको जिनलिंग नहीं है उनके कर्मोंका नाश कदापि नहीं होता है। वे तो अनंत संसारी ही हैं। जिनने जिनलिंग धारण कर लिया है परन्तु सम्यग्दर्शन नहीं है वे भी संसारी ही हैं, किंतु जिन भव्य पुरुषोंने सम्यग्दर्शनके साथ साथ जिन लिंग धारण कर तपश्चरण व्रत व चारित्रका पालन कर आत्माका ध्यान किया है उनके ही कर्मोंका नाश होता है।

कम्मुण खवेइ जोहु परवह्मण जाणेइ सम्मउमुक्को।
अत्थु ण तत्थु ण जीओ लिंगं घेत्तूण किं करई ॥ ८७ ॥

करम न क्षयै न ब्रह्म पर जो विन संम्यक मुक्त ।

लिंग धरनु वस्तरति जनु सो जिय खेद अजुक्त ॥ ८७ ॥

अर्थ—जो जीव परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता है और जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह जीव न तो गृहस्थ अवस्थामें है और न साधु अवस्थामें है केवल लिंगको धारण कर क्या करते हैं। कर्मोंका नाश तो सम्यक्त्व पूर्वक जिन लिंग धारण करनेसे ही होता है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनको विना धारण किये व्रत तप आचरण और साधु अवस्था व्यर्थ है, संसारको बढाने वाली ही है। संसारमें अनेक मनुष्य साधुका भेष धारण कर अपनेको महंत मानकर अनेक प्रकारके प्रपंच रचकर संसारके जीवोंको ठगते हैं और विषय कषायोंसे अपनी आत्माको ठगते हैं। वे कर्मोंका नाश नहीं कर सक्ते हैं। वे ब्रह्म (आत्मा] को नहीं जान सक्ते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शनको धारण कर आत्माके स्वरूपको सवसे प्रथम जानना चाहिये पुनः दीक्षा ग्रहण करना चाहिये ।

अप्पाणं पिणपिच्छइ ण मुणइ णवि सद्दहइ ण भावेइ ।

बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घित्तूण किं करई ॥८८॥

नहिं आतम पेखइ मुणहि नहि सरदह भावेइ।
वहुत दुःख भर मूल धरि लिंग कहा कारेइ ॥८८॥

अर्थ—जो अपनी आत्माको नहीं देखता है, नहीं जानता है, आत्माका श्रद्धान नहीं करता है, न आत्माके स्वरूपको अपने भावोंमें लगाता है और न यह आत्मा अपनी आत्मपरिणतिमें तल्लीन होता है तो फिर बहुत दुःखका कारणभूत साधु अवस्थाको धारण कर क्या लाभ लेता है?

भावार्थ—कर्मोंका नाश, दुखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति, आत्मस्वरूपमें परणति होनेसे होती है। जब तक आत्माका श्रद्धान नहीं है, स्वानुभव ही नहीं है और जब आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं है तब तक कर्मोंका नाश कदापि नहीं होगा। जिनलिंगको धारण करलेने पर भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती है।

जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो तावं।
तेण अणंत सुहाणं अप्पाणं भावए जोई ॥ ८९ ॥

जाव न जाणहि आतमा निज दुखदाता भाव।
तातैं ब्रह्म अनंतसुख मय ध्यावै मुनिराव ॥ ८९ ॥

अर्थ—जबतक अपनी आत्माका सत्यस्वरूप नहीं जाना गया है तबतक इस

आत्माको कर्मजन्य दुखका भार है ही और जब यह आत्मा अपने शुद्धस्वरूप टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव आत्माको जान लेता है, अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त हो जाता है उसी समय अनंत सुखको स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। इसीलिये मुनिगण शुद्धस्वरूप अपने आत्मस्वभावका ध्यान करते हैं, अपने शुद्धस्वरूपमें तन्मय हो जाते हैं और मोक्षसुखको प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जबतक अपनी आत्माके शुद्धस्वरूपकी भावना नहीं है, स्वस्वरूपकी प्राप्ति नहीं है और जबतक अपने भावोंकी स्थिरता अपनी आत्माके शुद्धस्वरूपमें दृढतासे नहीं है तबतक जिनलिंग धारण कर कठिन तपश्चरण करना उत्तम सुखका कारण नहीं है। इसलिये स्वात्मस्वरूपको जानकर तपश्चरण करना स्वेष्टसिद्धिके लिये लाभदायक है। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि अपने आत्मस्वरूपको जाने विना जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। जिनलिंगको धारण कर अभव्यजीवभी नवम-ग्रैवेयिक पर्यन्त उत्तम अहमिन्द्रोंके सुख प्राप्त कर सक्ते हैं। जिनलिंग धारण करनेका माहात्म्य ही अद्भुत और लोकोत्तर है। जो पुण्य किसी भी कठिनसे कठिन कार्यसंपादन करने पर प्राप्त नहीं हो सके वह महान पुण्य एक जिनलिंगको धारण कर प्राप्त होता है। एक जिनलिंगके सिवाय यदि अन्य श्वेतांवर

या त्रिदंडि संन्यासी आदि मिथ्याभेष धारण किये जांय तो अनंत संसारके ही कारण हैं। अन्य भेषोंको धारण कर कठिन तपश्चरण (पंचाग्नि आदि) दुर्गतिके दाता और दारुण दुःखोंके ही कारण हैं।

तपश्चरण भी दयामय फलप्रद है। परंतु दयाका सत्यस्वरूप एक जिनागमसे ही जाना जाता है। जिसने जिनागमको जान कर जिनलिंग धारण किया है तो उसका तपश्चरण सुखदायक ही है। चाहे उसके भावोंमें सम्यक्त्वकी जाग्रति न हो तो भी दयामय तपश्चरण सुखप्रद है।

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुदिट्ठं ॥९०॥

निज आतम उपलब्धि विन, समकित लहे न कोय।
समकितकी प्रापति विना, निश्चय मोक्ष न होय ॥९०॥

अर्थ—अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके विना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं है और सम्यक्त्वके विना मोक्षप्राप्ति सर्वथा नहीं है। यह श्रीजिनेन्द्रदेवका सुदृढ निश्चित सिद्धान्त है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी भव्य जीव ही जिन लिंगको धारण कर मोक्षके अधिकारी हैं। निर्वाणप्राप्तिकी योग्यता सम्यग्दृष्टि जीवोंको ही है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति आत्माके स्वरूपको जाननेसे ही होती है। जिनने आत्माके स्वरूपको जाना है उनने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है। इसलिये तत्त्वोंकी यथार्थ प्रतीति और निर्दोष परिज्ञान आत्माके स्वरूपको जाननेवाले भव्यात्माको ही है और उनको ही सम्यग्दर्शन है।

पवयणसारब्भासं परमप्पज्झाणकारणं जाणं।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणेहि मोक्खसोक्खं हि ॥९१॥

प्रवचनसार अभ्यास विदि परम ध्यानको हेत।
ध्यान धर्म खेपै करम खिपे मोक्ष सुखदेत ॥९१॥

अर्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिका अभ्यास ही परब्रह्म परमात्माके ध्यानका कारण है। विशुद्ध आत्माके स्वरूपका ध्यान ही कर्मोंका नाश व मोक्षसुखकी प्राप्तके लिये प्रधान कारण है।

भावार्थ—जीवोंको कर्मबंध राग द्वेष काम मोहादि विकारभावोंसे और मन

वचन कायकी चपलतासे होता है । संसारी जीवोंके मन वचन काय द्वारा और पूर्व-संबंधित कर्मोंके उदयसे जो जीवोंके भावोंमें राग द्वेष मोह कामादि विकाररूप अथवा हिंसा झूठ चौरी कुशीलादि पापाचरणरूप जो परिणति होती है उससे ही नवीन कर्म बंध होता है फिर उस कर्मबंधसे पुनः जीवके भावोंमें राग द्वेषादि विकार भावोंका परिणमन होता है इसप्रकार संततिरूपसे जीव कर्मोंका बंध अनादिकालसे कर रहा है।

इस कर्मबंधका नाश तब ही हो सक्ता है जब कि नवीन कर्मबंध न हो और पूर्व बद्ध कर्मोंकी निर्जरा हो जाय । कर्मबंधके कारण जीवोंके राग द्वेषादिरूपभाव और मन वचन कायकी प्रवृत्तिको रोक देनेसे नवीन कर्मका बंध नहीं हो सक्ता है। कारणका नाश होने पर कार्य नहीं हो सक्ता है । राग द्वेषादिरूप भावों की परिणतिका अभाव और मन वचन कायकी प्रवृत्तिका अभाव एक अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपका एकाग्ररूपसे अविचलतापूर्वक ध्यान करनेसे होता है। इसलिये ध्यान ही कर्मोंके नाशका प्रधान कारण और मोक्षसुखकी प्राप्तिका प्रधान कारण है।

सम्यक्ध्यान आत्मस्वरूपको जाननेसे होता है । अथवा यह समझना चाहिये कि जिनको विशुद्ध सम्यक्त्वपूर्वक निर्दोष चारित्र है उनको ही सम्यक ध्यान होता

है। परिणामोंकी विशुद्धता हुए विना आत्माके भाव अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपमें कदापि एकाग्रता पूर्वक स्थिर नहीं रह सक्ते हैं। मोहोदयसे जीवोंके भावोंमें राग द्वेष की मलिन परिणति नियमपूर्वक अवश्य ही होती है और राग द्वेषसे आर्त्त रौद्र अप्रशस्त ध्यान दुर्गतिके कारण होते हैं।

सालविहीणो राउ दाणदया धम्मरहिय गिह सोहा।
णाणविहीण तवो विय जीववविणा देहसोहं च ॥ ९२ ॥

साल राज विन दान दय धर्म रहित गृह देखि।
ज्ञान हीन तप जीव विन देह सोभ ज्यों पेखि ॥ ९२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार परिकोटा (नगररक्षाका कोटा) के विना राजाकी शोभा, दान दया और धर्मके विना गृहस्थकी शोभा, जीवके विना मृतक शरीर की शोभा विफल है उसी प्रकार ज्ञानके विना तपकी शोभा भी विफल है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानके साथ तपश्चरण कर्मोंके नाशका कारण है। अनेक प्रकारकी ऋद्धि, प्रभुता सर्वलोककी पूज्यता आदिका कारण भी सम्यग्ज्ञानपूर्वक तपश्चरण ही है।

अज्ञानी लोगोंका मिथ्या तप शरीर को कष्टदायक और दुर्गतिका कारण है। तपकी शोभा सम्यग्ज्ञानसे ही है। ज्ञान विना तपश्चरण केवल क्लेशकारी ही है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष तपश्चरणके द्वारा देवोंसे पूज्य और त्रिलोकमें सम्मानित होता है, परंतु अज्ञानी पुरुषोंका तपश्चरण केवल हास्यका ही कारण होता है।

मक्खि सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउं।
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी ॥ ९२ ॥

ज्यों मक्खी सिल पडि मुई परिगहपर पड़ित अगाध।
लोभी मूढ अज्ञान ज्यों काय कलेशी साध ॥ ९२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मक्खी श्लेष्मा (कफ) में पड़ कर तत्काल ही मर जाती है उसी प्रकार लोभी अज्ञानी मुनि परिग्रहके लोभमें पड़कर केवल काय क्लेश मात्रका ही भागी होता है, कर्मोंका नाश नहीं कर सक्ता है।

भावार्थ—खानेके लोभसे मक्षिका विना विचारे (ज्ञानके विना) श्लेष्मामें पड़ कर मर जाती है उसी प्रकार साधु भी परिग्रहके लोभमें पड़कर अपने तपकी महिमाको नष्ट करते हैं।

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किंपि।
णाणं तस्स ण होइ हु ताव ण कम्मं खवेइ णहु मोक्खो ॥९४॥

ज्ञानाभ्यास विन सुपर तत्त्व न कुछ जानंत।
ध्यान न होइ न कर्मक्षय मोक्ष न है तावंत ॥ ९४ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानके अभ्यास विना यह जीव भेद विज्ञानको प्राप्त नहीं होता है। आत्मतत्त्व और परतत्त्वको सर्वथा ही नहीं जानता है। स्वपरके ज्ञान विना ध्यान नहीं होता है और सम्यक् ध्यानके विना कर्मोंका क्षय और मोक्ष कदापि नहीं होती है। इसलिये सम्यग्ज्ञानका अभ्यास अवश्य ही करना चाहिये।

भावार्थ—मिथ्या शास्त्रोंके अभ्याससे आत्मामें मिथ्या श्रद्धान पूर्वक कुतत्त्वका ही ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान नहीं होता है। जीवोंको मिथ्या शास्त्रोंका अभ्यास प्रत्यक्षमें ही गृहीत मिथ्यात्वको बढ़ानेवाला और धर्मकर्मसे शून्य बनानेवाला है। नास्तिकताके भाव और बुद्धिमें मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति करानेवाला है। जीवोंको जितनी बड़ी भारी हानि मिथ्याशास्त्रोंके अभ्याससे होती है उतनी हानि कुदेव सेवन हिंसा झूंठ और पापाचरणके सेवन करनेसे नहीं होती है क्योंकि मिथ्या-शास्त्रोंके अभ्यासका असर बुद्धि-ज्ञान और आत्माके भावोंमें महामलिन परिणमन

कराकर सम्यग्मार्गसे पतन कराकर कुमार्गगामी एवं हिताहितके विचार रहित विवेक-शून्य बना देता है। इसलिये जीव अपने कर्तव्यसे शून्य ग्रहिल और व्यामोही बन जाता है। सारासारके विचारसे रहित धर्मशून्य भ्रष्टाचारी हो जाता है।

भावश्रुत और द्रव्यश्रुतका परिज्ञान जिनागमके अभ्याससे ही होता है। आत्मा-का सत्य स्वरूप एक जिनागमसे जाना जाता है। आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षका सत्य सत्य परिज्ञान एक जिनागमसे ही होता है।

सम्यक् ध्यान वस्तुका यथार्थ स्वरूप जान लेने पर होता है। इसलिये सम्यक् ध्यानकी प्राप्तिके लिये जिनागमका ही अभ्यास करना चाहिये, मिथ्या शास्त्रोंका नहीं।

अज्झयणमेव झाणं पंचेंदियणिग्गहं कसायं पि।
तत्ते पंचमकाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जा हो ॥९५॥

एक अध्ययनही ध्यान है निग्रह अक्षकषाय।
काल पंचमे प्रवचन सार अभ्यास कराय ॥ ९५ ॥

अर्थ--प्रवचनसार (जिनागम) का अभ्यास, पठन-पाठन चिंतवन-मनन और वस्तु स्वरूपका विचार ही ध्यान है। जिनागमके अभ्याससे ही इन्द्रियोंका निग्रह,

मनका वशीकरण और कषायोंका उपशम होता है इसलिये पंचमकाल भरतक्षेत्रमें एक जिनागमका ही अभ्यास करना श्रेष्ठ है। कर्मोंके नाश करनेका यही मूल कारण है।

भावार्थ–श्री जिनेन्द्र भगवानका प्रणीत सत्यार्थका प्रकाश करनेवाला आगम है। जिनागमके अभ्याससे भावश्रुत और द्रव्यश्रुतकी प्राप्तिके साथ मन और इन्द्रियोंका पूर्ण निग्रह होता है और विषय कषाय तथा काम क्रोध मान माया राग द्वेषादि विकारभावोंसे आत्माकी परणति रुक जाती है इसप्रकार राग द्वेषकी परणतिका संरोध होनेसे आत्मा अपने शुद्ध स्वसमयरसमें तल्लीन हो जाता है। स्वात्मस्वभावमें स्थिर होना ही ध्यान है।

धम्मज्झाणब्भासं करेइ तिविहेण जाव सुद्धेण।
परमप्पज्झाणचेतो तेणेव खवेइ कम्माणि ॥ ९६ ॥

धर्मध्यान अभ्यास करि भाव शुद्ध त्रिविधेन।
चेष्टा आतमध्यानपर करम खपत है तेन ॥

अर्थ—मन वचन कायकी विशुद्धतासे अपने आत्माके परिणामोंसे होने वाले अशुभ संकल्प विकल्पोंको रोककर धर्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये। उस धर्म-

ध्यानके फलसे ही आत्मामें परम विशुद्ध निर्विकल्पक शुक्ल ध्यान होता है जिससे यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपमें तन्मय होकर समस्त प्रकारके कर्मोंका नाशकर स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—पिंडस्थ पदस्थादि भेद रूप अथवा आज्ञाविचयादिरूप धर्मध्यानका अभ्यास होनेसे आत्माके भावोंमें परम विशुद्धता प्राप्त होती है और अशुभ रागादिक भावोंके संकल्प विकल्प स्वयमेव शांत हो जाते हैं। यह धर्मध्यान शुक्लध्यानके उत्पन्न होनेका प्रधान कारण है। इसलिये धर्मध्यानका अभ्यास कर कर्मोंके नाश करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जो भव्य यह समझते हैं कि इस समय शुक्लध्यान तो होता ही नहीं है कर्मोंका नाश शुक्लध्यानसे ही होता है इसलिये ध्यानका आराधन करना व्यर्थ है। परन्तु आचार्य महाराज अपने अनुभवको प्रत्यक्ष रखकर कहते हैं कि धर्म ध्यान ही शुक्लध्यानका कारण है इसलिये धर्मध्यानका अभ्यास करना श्रेष्ठ है।

पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्ति करणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं ॥९७॥

पापारंभ निवृत्ति ह्वय प्रवृत्ति पुण्य आरंभ।
धरम ध्यान कह्यो ज्ञानको जिन सब जीवन थंभ ॥ ९७ ॥

अर्थ---पाप कार्यकी निवृत्ति और पुण्य कार्योंमें प्रवृत्तिका मूलकारण एक सम्यग्ज्ञान है। इसलिये मुमुक्षु जीवोंके लिये सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान श्रीजिनेन्द्र देवने कहा है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानसे तत्त्व अतत्त्व, धर्म अधर्म, पुण्य पाप, हित अहित, योग्य अयोग्य, कर्तव्य अकर्तव्य, ग्राह्य और अग्राह्यका बोध होता है। भव्य जीव सम्यग्ज्ञानसे अपनी आत्माका शुद्ध स्वरूप विचार कर अपने आत्मपरिणामोंको छोड़कर पर पदार्थों पर राग द्वेष नहीं करते हैं और न विषय कषायों की सिद्धिके लिये इष्टानिष्ट बाह्य पर पदार्थोंमें शुभाशुभ संकल्प विकल्पही करते हैं। इसलिये सम्यग्ज्ञानी पुरुषकी स्वाभाविक स्वयमेव ऐसी विशुद्ध परणति हो जाती है कि जिससे उनकी हिंसादिक पाप कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं होती है। वे पुण्योत्पादक शुभ चारित्र की निरन्तर प्रवृत्ति करते हैं। इसीलिये सम्यग्ज्ञानसे जीवोंके भावोंमें साम्यभावकी स्थिरता प्रकट होती है। राग द्वेषादि विकारभावरहित साम्य अवस्था ही धर्मध्यान है।

सम्यक्चारित्रके अभ्यास विना धर्मध्यान कदापि नहीं होता है। सम्यक्

चारित्रकी प्राप्ति ही धर्मध्यानका स्वरूप है। सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानसे ही होता है इसलिये सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान है।

सुदणाणब्भासं जो कुणइ सम्मं ण होइ तवयरणं।
कुव्वं जइ मूढमइ संसारसुखाणुरत्तो सो॥ ९८॥

जो श्रुतज्ञान अभ्यास कर समकित नाहिं विचार।
करे ज्ञान विन मूढतप सो सुखरत संसार॥ ९८॥

अर्थ—जो मुनि अच्छी तरह जिनागमका अभ्यास नहीं करता है और विना जिनागमके अभ्यासके ही तपश्चरण करता है, वह अज्ञानी है और सांसारिक सुखोंमें लीन है ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—जिनागमके अभ्याससे ही भव्यजीवोंको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति और वस्तु स्वरूपका यथार्थ बोध होता है। इसलिये जिनागमका अभ्यास ही भावश्रुत और द्रव्यश्रुतका प्रधान कारण है। जिन भव्य यतीश्वरोंको जिनागमके अभ्यास द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त होगया है वे ही सम्यक् तपश्चरण कर कर्मोंका नाश कर मोक्ष सुखके अधिकारी होते हैं।

मिथ्या शास्त्रोंका पठन पाठन और मिथ्या शास्त्रोंका विशाल ज्ञान भी यतीश्वरों

को अज्ञान भावका प्रकट करनेवाला है। ऐसे महान विशाल ज्ञानसे यतीश्वरोंको* भी वस्तुस्वरूपका यथार्थबोध कदापि नहीं होता है। बल्कि मिथ्याज्ञानभावसे उनका तपश्चरण भी आत्मबोध रहित होनेसे संसारका ही कारण होता है।

---

* जब कि यतीश्वरोंको भी मिथ्याशास्त्रोंका अभ्यास सम्यग्दर्शनको नष्ट करनेवाला और संसारका कारण है तो गृहस्थोंको मिथ्याशास्त्रोंका अभ्यास तो केवल पापकार्योंका ही प्रधान कारण समझना चाहिये। गृहीतमिथ्यात्वका मूलकारण कुशास्त्रोंका अभ्यास है। जो गृहस्थ केवल मिथ्याशास्त्रोंका अभ्यास कर पंडित या ज्ञानी बनते हैं वे हिताहितके विचार रहित निरंतर पापकार्योंकी प्रवृत्ति कराने वाले और आत्मज्ञानसे शून्य होते हैं। उनको सम्यक् चारित्र रुचिकर नहीं होता है। वे मिथ्याचारित्रसे ही आत्माका हित समझते हैं। कभी कभी मिथ्याशास्त्रोंका पठनपाठन कर महान ज्ञान संपादन कर अनेक जैनी पंडित व ब्रह्मचारी सम्यक् चारित्रके विरोधी बनकर पापकार्योंमें ही चारित्र मानते हैं। इस प्रकारसे यह विपरीतभाव संसारको ही बढ़ानेवाला है और मिथ्यात्वका कारण है। मिथ्या शास्त्रोंका ज्ञान आत्माके भावोंमें ऐसी विलक्षण परिणति निरंतर करता है कि जिससे हिताहितको विचार ही नहीं होता है। केवल विषयसुखकी कामना होती रहती है।

तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणासहावजुदो ।
अणवरयं धम्मकहापसंगदो होइ मुणिराओ ॥ ९९ ॥

तत्त्व विचारक मोक्ष पथ आराधकी सुभाव ।
होइ प्रसंगी धरम तिह निरंतर मुनिराय ॥ ९९ ॥

अर्थ—जो मुनिराज सदा आत्मतत्त्वके विचार करनेमें लीन रहते हैं मोक्षमार्ग को आराधन करनेका जिनका स्वभाव हो जाता है और जिनका समय निरंतर धर्म कथामें ही लीन रहता है वे ही यथार्थ मुनिराज कहाते हैं। मुनिराजोंका यही स्वरूप है।

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहिओ णाणी ।
धम्मुद्देसणकुसलो अणुपेहाभावणाजुदो जोई ॥१००॥

विकथा बिन आधा करम विन ज्ञानी मुनि सोय ।
धर्मदेशना निपुन अनुप्रेक्ष भावना होय ॥ १०० ॥

अर्थ—विकथा हास्यवचन और निंद्यवचनको नहीं कहने वाले, आधादिकर्मसे उत्पन्न हुए दोषों रहित चर्या करने वाले, सतत धर्मका उपदेश करने वाले, और

बारह भावनाओंके द्वारा तत्त्व स्वरूपका विचार करनेवाले ज्ञानी भव्य जिनलिंग धारक मुमुक्षु यतीश्वर होते हैं।

भावार्थ—यतीश्वरोंका स्वरूप चार लक्षणोंसे प्रकट होता है। यतीश्वर विकथादि पापजन्य बातें और परिग्रह विषय कषायोंको बढ़ानेवाली किस्सा कहानियां नहीं करते हैं। आधादि कर्मके दोषोंसे उत्पन्न हुए आहारको ग्रहण नहीं करते हैं। उनका समय जिन शासन की वृद्धिके लिये निरंतर धर्म देशना (धर्मोपदेश) में ही व्यतीत होता है और वे सतत बारह भावनाओंसे संसार-शरीर भोग आदिकसे विरक्त होकर अपने आत्मतत्त्वके विचारमें लीन रहते हैं।

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो।
णिम्मल सहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ ॥१०१॥

अविकल्पी निरदुंदनर मोह निय न निकलंक।
निर्मल जुक्त सुभाव मुनि सो योगीश निसंक ॥१०१॥

अर्थ—परमोत्कृष्ट मुनीश्वरका स्वरूप बतलाते हैं। जो यतीश्वर शुभाशुभ संकल्प विकल्पोंसे रहित है, निर्द्वंद्व है, निर्मोह है, निष्कलंक है, अपने स्वरूपमें स्थिर है और निर्मल स्वात्म स्वभाव सहित है वही मुनिनाथ है।

भावार्थ---मुनीश्वर संज्ञा छठे गुणस्थानसे प्रारंभ होती है और चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त उसका ही उत्तरोत्तर विशेष उत्कृष्ट स्वरूप होता है । सर्वोत्कृष्ट मुनीश्वरका स्वरूप छठे गुणस्थानमें प्रकट नहीं होता है । सर्वोत्कृष्ट मुनीश्वरका स्वरूप इस गाथामें बतलाया है ।

निर्मोह, निष्कलंक, निर्द्वंद्व आदि गुण यद्यपि छठे गुणस्थानवर्ती सामान्य मुनीश्वरके भी यत्किंचित् स्वरूपसे होते हैं । परंतु तेरहवें गुणस्थानवर्ती यतीश्वरोंमें ही उक्त गुणोंकी पूर्णता होती है ।

णिंदावंचणदूरो परीसहउवसग्गदुक्खसहभावो ।
सुहझाणज्झयरणदो गयसंगो होइ मुणिराओ ॥१०२॥

निंदा वचन विन सहत दुख उपसर्ग परीस ।
अध्ययन रु शुभध्यानरत विनपरिग्रह मुनीस ॥१०२॥

अर्थ-जो निंदादिक गर्ह्य वचनोंसे रहित वचन गुप्तिके प्रतिपालक हैं, परीषह और उपसर्गके भयंकर दुःखको सहन करनेवाले, साम्यभावके धारक, शुभध्यान और जिनागमके अध्ययनमें तत्पर तथा चोवीस प्रकारके परिग्रहसे सर्वथा रहित नग्न दिगम्बर हैं, वे ही यतीश्वर होते हैं ।

भावार्थ—उत्तम संहननके धारक और मूलगुण तथा उत्तर गुणोंके प्रतिपालक तद्भवमें मोक्षकी प्राप्ति करनेवाले यतीश्वरोंका स्वरूप वतलाते हैं—जो यतीश्वर समस्त प्रकारके उपसर्ग व समस्त प्रकार की परीषहके दुखोंका अनुभव न कर अपने स्वात्म-शुद्ध स्वभावमें स्थिर रहते हैं, वचन गुप्तिका पालन करते हैं द्वादशांग श्रुतज्ञानका अभ्यास करते हैं, शुभध्यानमें तत्पर रहते हैं और परिग्रहरहित जिनलिंगको धारण करते हैं वे ही परम यतीश्वर हैं।

यद्यपि मुनीश्वरोंका वाह्य स्वरूप जिनलिंग ही है जिन भव्य मुमुक्षु जीवोंने परिग्रह का परित्याग कर निःशल्यभावसे जिनलिंग (नग्न दिगम्बरत्व) को धारण कर मूल-गुणकी आराधना की है वे ही मुनीश्वर हैं। सामान्यरूपसे सर्व मुनीश्वरोंके उत्तम संहनन नहीं होता है। जिन मुनीश्वरोंको उत्तम वज्रवृषभनाराच संहनन है। वे उपसर्ग व समस्त प्रकारकी परीषहोंको सहन कर साम्यभावकी प्राप्ति करते हैं, द्वादशांगके पाठी और भावश्रुतके धारक होते हैं।

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छभावसंजुत्तो।
सव्वण्हुवएसेसो णिव्वाणसुहं ण गच्छेई ॥१०३॥

काय किलेश तीव्र करे मिथ्याभाव न मुक्त ।
सर्वज्ञको उपदेश यह सो नहिं शिव सुखभुक्त ॥१०३॥

अर्थ—जो मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाले भावोंको धारण करता है परंतु काय क्लेश अत्यंत तीव्र करता है। ऐसा जीव भी मोक्ष सुखको प्राप्त नहीं हो सकता। यही सर्वज्ञ देवका उपदेश है। अभिप्राय यह है कि तीव्र तपश्चरण करने पर भी जब तक मिथ्यात्वको धारण करता है तबतक उसे कभी भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

रायाइमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सये किं पि ।
समलादरिसे रूवं ण दिस्सए जह तहा णेयं ॥ १०४ ॥

रागादिक मल जुगत निज रूप तनक ना दीख ।
समल आरसो रूप जिम नाहिं जथावत दीख ॥ १०४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मलिन दर्पणमें अपना यथार्थ रूप दिखाई नहीं देता उसी प्रकार जिनका आत्मा राग द्वेष आदि दोषोंसे मलिन हो रहा है उस मलिन आत्मामें आत्माका यथार्थ स्वरूप कुछ भी दिखाई नहीं देता है।

भावार्थ—अपनी शुद्ध आत्माका अनुभव करनेके लिये आत्माके निर्मल होनेकी

आवश्यकता है क्योंकि निर्मल आत्मामें ही आत्माका अनुभव होता है। जो आत्मा राग-द्वेषसे मलिन है उसमें आत्माका अनुभव कभी नहीं हो सकता। इसलिये साधुओंको सबसे पहले अपने रागद्वेष आदि दोषोंका त्याग कर आत्माको निर्मल बनाना चाहिये, जिससे अपने आत्माका अनुभव हो सके।

दंडत्तयसल्लत्तयमंडियमाणो असूयगो साहु।
भंडणजायणसीलो हिंडइ सो दीहसंसारे ॥१०५॥

दंडशल्यत्रय मुंडियो निंदक साधु जु होय।
भंडण जाचण शील है हिंडे वहुभव सोय ॥ १०५ ॥

अर्थ—जो मुनि मन वचन कायको अपने वशमें नहीं रखते, माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंको धारण करते हैं जो दूसरोंसे ईर्ष्या धारण करते हैं जो लड़ाई झगडा करते हैं और याचना करते हैं वे साधु इस संसारमें दीर्घ कालतक परिभ्रमण करते हैं।

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहु सम्मपरिचत्ता ॥ १०६ ॥

देहादिक अनुरत विषै लीन कषाय संजुक्त ।
सोवत आप सुभावतें सो मुनि समकित मुक्त ॥ १०६ ॥

अर्थ—जो मुनि शरीर भोग वा सांसारिक कार्योंमें अनुरक्त रहते हैं, जो विषयोंके सदा आधीन रहते हैं, कषायोंको धारण करते हैं और अपने आत्माके स्वभावमें सदा सोते रहते हैं, आत्माके स्वभावको प्रगट करनेमें कभी जागृत नहीं होते ऐसे मुनियों-को सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिये ।

आरंभे धणधण्णे उवयरणे कक्खिया तहा सूया ।
वयगुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहुरा ॥ १०७ ॥
संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहियगुरुकुला मूढा ।
रायाइसेवया ते जिणधम्मविराहिया साहू ॥१०८ ॥

है आरंभ धनधान उपकरणइच्छ अरु जाच ।
व्रतगुणशील विना कलह प्रिय कषाय बहुवाच ॥१०७॥
मूढ कुशील विरोधसंघ गुरुकुल रहे स्वछंद ।
राजसेव कर जिन धरम है विरोध मुनिमंद ॥१०८॥

अर्थ—जो मुनि होकर भी किसी आरंभकी, धनकी, धान्यकी वा किसी उपकरणकी इच्छा करते हैं, जो अन्य साधुओंसे ईर्ष्या करते हैं, जो व्रत समिति गुप्ति तथा शीलसे रहित हैं, जो कषायके वशीभूत हैं, कलह करनेवाले हैं और बहुत बोलते हैं, जो संघसे विरोध करते हैं, कुशीलता धारण करते हैं, जो गुरुके आधीन न रह कर स्वतंत्र रहते हैं, गुरुके समीप नहीं रहते अथवा गुरुकी आज्ञानुसार नहीं चलते, जो अज्ञानी हैं और राजादिककी सेवा करते हैं उन साधुओंको जिनधर्म्मके विरोधी समझना चाहिये।

जोइसविज्जामंत्तोपजीवणं वा य वस्सववहारं।
धणधण्णपडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ ॥१०९॥

ज्योतिषविद्या मंत्र उपजीवन वर्ष व्योहार।
धनधान्यादिक प्रतिग्रहण मुनिदूसन परमाद ॥

अर्थ—जो मुनि ज्योतिषशास्त्रसे वा किसी अन्य विद्यासे वा मंत्र तंत्रोंसे अपनी उपजीविका करता है, जो वर्षतकके व्यवहार करता है और धनधान्य आदि सबका ग्रहण करता है वह मुनि समस्त मुनियोंको दूषित करनेवाला होता है।

जे पावारंभरया कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता ।
लोयववहारपउरा ते साहू सम्मउम्मुक्का । ११० ॥

जुत कषाय रतपापरंभ जो परिग्रह भरतार ।
प्रवर लोकव्यवहारतें साधु न समकित धार ॥ ११० ॥

अर्थ—जो साधु पापरूप कार्योंके आरंभ करनेमें लीन रहते हैं, जो कषाय सहित हैं, परिग्रहमें सदा लीन रहते हैं और जो लोकव्यवहारमें सदा लगे रहते हैं ऐसे साधुओंको सम्यक्त्व रहित ही समझना चाहिये ।

चम्मट्ठि मंसलव लुद्धो सुणहो गज्जए मुणिं दिट्ठा ।
जह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठो ॥ १११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चर्म, हड्डी, और मांसके टुकड़ोंमें लोभ करनेवाला कुत्ता मुनिको देख कर भोंकता रहता है उसीप्रकार पापी पुरुष धर्मात्माओंको देखकर भोंकता रहता है ।

ण सहंति इयरदप्पं थुवंति अप्पाण अप्पमाहप्पं ।
जिब्भ णिमित्त कुणंति ते साहू सम्म उम्मुक्का ॥ ११२ ॥

इतर दर्प नहिं सहिं सकत अनु आप महिंत।

जीवनिमित कारजकरैं ते मुनि न हिं समकिंत। ११२ ॥

अर्थ–जो मुनि दूसरेके अभिमानको वा ऐश्वर्य बड़प्पन आदिको सहन नहीं कर सकता जो अपने आप अपनी महिमा प्रगट करता है और वह भी केवल जिह्वाके स्वादके लिये। अर्थात् जो केवल स्वादिष्ट भोजन मिलनेके लिये अपनी प्रशंसा करता है उस साधुको सम्यक्त्वरहित समझना चाहिये।

भुंजेइ जहालाहं लहेइ जइ णाणसंजमणिमित्तं।

झाणउज्झयणणिमित्तं अणियारो मोक्खमग्गरओ ॥ ११३॥

जथा लाभ लहि भुंजिए संजमज्ञान निमित्त।

ध्यान अध्ययन कारने ते मुनि शिवमगरत्त। ११३ ॥

अर्थ–जो मुनि केवल संयम और ज्ञानकी वृद्धिके लिये तथा ध्यान और अध्ययन करनेके लिये जो मिल गया–भक्ति पूर्वक जिसने जो शुद्ध आहार दे दिया उसीको ग्रहण कर लेते हैं वे मुनि अवश्य ही मोक्षमार्गमें लीन रहते हैं।

उवरग्गिसमणमक्ख मक्खण गोयारसब्भपूरणभमरं ।
णाऊण तप्पयारे णिच्चवं भुंजए भिक्खु ॥ ११५ ॥

उदरअगिनि उपशम खमन गोचर भ्रामरि पूरि ।
जिहिं प्रकार हित जान निज तिमि भुंजइ नित सूर ॥ ११४ ॥

अर्थ—मुनियोंकी चर्य्या वा आहार लेनेकी विधि आचार्योंने पांच प्रकारकी बतलाई है । उदराग्निप्रशमन, अक्षम्रक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी । मुनियों-को इन सब भेदोंको समझना चाहिये और इन्हींके अनुसार आहार ग्रहण करना चाहिये । जितने आहारसे उदरकी अग्नि शांत हो जाय उतना ही आहार लेना अधिक न लेना उदराग्निप्रशमन है । जिस प्रकार गाड़ीको चलानेके लिये उसके पंहियोंकी कीली पर तेल डालते हैं क्योंकि विना तेलके वह गाड़ी चल नहीं सकती उसी प्रकार यह शरीर भी विना आहार दिये चल नहीं सकता इसलिये इस शरीरको मोक्ष तक पहुंचानेके लिये आहार देना अक्षम्रक्षण विधि है । जिस प्रकार गायको चारा डाला जाता है उस समय वह डालनेवालेकी सुंदरता वा आभूषण आदिको नहीं देखतीं केवल चारेको देखती है उसी प्रकार आहारके समय अमीर गरीब घरको न देखना किसीकी सुंदरताको न देखना केवल आहारसे प्रयोजन रखना गोचरी वृत्ति

कहलाती है। जिस प्रकार किसी गढ़ेको मिट्टी कूड़ा आदि चाहे जिससे भर देते हैं उसी प्रकार इस पेटको अच्छे बुरे चाहे जैसे आहारसे भर लेना श्वभ्रपूरण विधि है। भ्रमर जिस प्रकार फूलोंको कष्ट न देता हुआ उनका रस लेता है उसी प्रकार किसी भी गृहस्थको कष्ट न देते हुए आहार ग्रहण करना भ्रामरी वृत्ति है। इस प्रकार इन आहारकी विधिओंको जान कर इनके अनुसार आहार ग्रहण करना चाहिये।

रसरुहिरमंसमेदट्ठिसुकिलमलमुत्तपूयकिमि बहुलं।
दुग्गंध मसुइ चम्ममयमणिच्चमचेयणं पउणं ॥११५॥
बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहो।
तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसए भिक्खू। ११६॥

रसशुक्रमज्जा अस्थिपल पूय किरिमि मलमुत्त।
बहुदुर्गंध चरममय अशुचि अनित अचेतन जुत्त ॥ ११५ ॥
दुखभाजन कारन कर्म भिन्न आतमा देह।
तथा धर्म अनुठान विदि पोसे मुनि नहिं देह ॥ ११६ ॥

अर्थ—यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, वीर्य, मल, मूत्र, पीव और अनेक प्रकारके कीड़ोंसे भरा हुआ है। इसके सिवाय यह शरीर दुर्गंधमय है, अपवित्र है, चमड़ेसे लपेटा हुआ है अनित्य है, जड़ है और नाश होनेवाला है। यह शरीर अनेक प्रकारके दुःखोंका पात्र है, कर्म आनेका कारण है और आत्मासे सर्वथा भिन्न है। ऐसे शरीर को मुनिराज कभी पालन पोषण नहीं करते हैं किंतु यही शरीर धर्मानुष्ठानका कारण है। यही समझ कर इस शरीरसे धर्म सेवन करनेके लिये और मोक्षमें पहुंचनेके लिये मुनिराज इसको थोड़ासा आहार देते हैं बिना आहारके यह शरीर चल नहीं सकता और बिना शरीरके धर्मानुष्ठान हो नहीं सकता वा चारित्र पालन हो नहीं सकता इसीलिये इसको आहार देकर इससे चारित्र पालन कराया जाता है। मुनिराजोंके आहार ग्रहण करनेका यही कारण है और कुछ नहीं।

कोहेण य कलहेण य जायण सीलेण संकिलेसेण।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ किं विंतरो भिक्खू ॥ ११७॥

क्रोध कलह कर जांचिके संकलेश परिणाम।
रुद्र रोस करि भुंजए नहि साधू अभिराम ॥ ११७॥

अर्थ—जो मुनि क्रोध दिखलाकर आहार लेता है, कलह कर आहार लेता है।

याचना कर आहार लेता है, वा संक्लेश परिणामोंको धारण करता हुआ आहार लेता है, अपने रौद्र परिणामोंसे आहार लेता है वा क्रोध करता हुआ आहार लेता है। वह साधु नहीं है किंतु उसे व्यंतर समझना चाहिये।

भावार्थ—व्यंतर नीच देव होते हैं। क्रोध कलह करना, रौद्र परिणाम धारण करना, संक्लेश परिणाम करना आदि उनका कार्य रहता है। मुनियोंका यह कार्य नहीं है। इसलिये जो मुनि होकर भी ऐसे मलिन परिणाम रखता है वह नीच व्यंतरके समान है।

दिव्वुत्तरणसरित्थं जाणिच्चाहो धरेइ जइ सुद्धो।
तत्तायसपिंडसमं भिक्खू तुह पाणिगयपिंडं ॥ ११८ ॥

दिव्वु तिरन सम जानिये शुद्ध है धार अहार।
तपत लोह सम पिंड तुज मुनिवर कवलहि धार ॥ ११८ ॥

अर्थ—हे मुनिवर! तेरे हाथपर रक्खा हुआ आहारका पिंड यदि तपाये हुए लोहेके गोलेके समान अत्यंत शुद्ध है तो तू उसे संसारसे पार करदेनेवाला समझकर ग्रहण कर।

भावार्थ—मुनियोंको शुद्ध और निर्दोष आहार ही ग्रहण करना चाहिये तथा उस आहारको मोक्षका कारण मान कर केवल शरीरसे तपश्चरण करनेके लिये और इसीलिये उसे बनाये रखनेके लिये ग्रहण करना चाहिये।

संजमतवझाणज्झयविण्णाणये गिण्हए पडिग्गहणं।
वच्चइ गिण्हइ भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खू॥ ११९॥

संजम तप ध्यानाध्ययन पड़िगह गहै विज्ञान।
ऐते संग्रह साधुके वंचि सके दुख तानि॥ ११९॥

अर्थ—साधुओंको संयम बढ़ानेके लिये तपश्चरण करनेके लिये, ध्यानकी शक्ति बढ़ानेके लिये, शास्त्रोंका अभ्यास करनेके लिये और तत्त्वोंका स्वरूप जाननेके लिये प्रतिग्रह (आहार स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना) स्वीकार करना चाहिये। जो साधु इन ऊपर कहे हुए कारणों को छोड़कर केवल शरीरको पुष्ट बनानेके लिये आहार लेता है वह साधु संसारके जन्ममरणरूप कभी दुःखोंसेनहीं छूट सकता।

अविरददेसमहव्वयआगमरुहणं विचार तच्चण्हं।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं॥ १२०॥

अविरत देश महाविरत श्रुति रुचिरत्व विचार।
पात्र नु अंतर सहसगुन कहि जिनपति निरधार ॥१२०॥

अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टी, देशव्रती श्रावक और महाव्रतियोंके भेदसे आगममें रुचि रखनेवालोंके भेदसे और तत्त्वोंके विचार करनेवालोंके भेदसे भगवान जिनेन्द्रदेवने हजारों प्रकारके पात्र बतलाये हैं।

भावार्थ—मुनि उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है और अविरत सम्यग्दृष्टी जघन्यपात्र हैं। इनमें भी मुनियोंमें अनेक भेद हैं श्रावकोंमें अनेक भेद हैं और अविरत सम्यग्दृष्टियोंमें अनेक भेद हैं। इस प्रकार पात्रोंके अनेक भेद हैं।

उवसम णिरीह झाणज्झयणाइमहागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया ॥ १२१ ॥

उपशमध्यानाध्ययन महा अनेच्छक दिए।
जे मुनि एते गुण सहित पात्र कहे उत्कृष्ट ॥१२१॥

अर्थ—उपशम परिणामोंको धारण करनेवाले, विना किसी इच्छाके ध्यान करनेवाले तथा अध्ययन करनेवाले मुनिराज उत्तमपात्र कहे जाते हैं। मुनियोंके इन महागुणोंकी जैसी जैसी वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे पात्रताकी उत्कृष्टता उनमें आती

जाती है। पात्रताकी उत्कृष्टता गुणोंके अधीन हैं जैसे ध्यानादिक गुण बढ़ते जायंगे वैसे ही वैसे उनमें उत्तमता आती जाती है। इसप्रकार उत्तम पात्रोंमें भी अनेक भेद हो जाते हैं।

दंसण सुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिमल्लो।
पत्तविसेसो भणियो ते गुणहीणो दु विवरीदो॥ १२२ ॥

अर्थ—जिस मुनिका सम्यग्दर्शन अत्यन्त शुद्ध है, जो धर्मध्यानमें सदा लीन रहता है, जो सब तरहके परिग्रहसे रहित है और माया मिथ्यात्व और निदान रूप तीनों शल्योंसे रहित है ऐसा जो मुनि है उसको विशेष पात्र कहते हैं। जिस मुनिमें ये ऊपर कहे हुए गुण नहीं हैं वह उससे विपरीत अर्थात् अपात्र है।

सम्माइगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणे हि णिद्दिट्ठं॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है कि जिसमें सम्यग्दर्शनकी विशेषता है उसीमें पात्रपनेकी विशेषता समझनी चाहिये।

भावार्थ—जैसा जैसा सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता जाता है वैसी वैसी ही पात्रतामें विशेषता वा निर्मलता आती जाती है।

णत्रि जाणइ जिणसिद्धसरूव तिविहेण तह णियप्पाणं ।
जो तिव्वं कुणइ तवं सो हिंडइ दीहसंसारे ॥ १२४ ॥

नहि जाने जिन सिद्ध अरु निज स्वरुप त्रिविधे हि ।
सो तप तीव्र करे तऊ भ्रमै दीर्घ भव नेह ॥ १२४ ॥

अर्थ--जो मुनि न तो भगवान अरहंत देवका स्वरूप जानता है, न भगवान सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप जानता है और न वहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके भेदसे अपने आत्माका स्वरूप जानता है वह मुनि यदि तीव्र तपश्चरण करे तो भी वह इस जन्म मरण रुप महासंसारमें दीर्घ कालतक परिभ्रमण करता है।

भावार्थ---पंच परमेष्ठिका तथा आत्माका स्वरुप जानना सम्यग्दर्शनका साधन है। जो इनका स्वरुप नहीं जानता वह सम्यग्दर्शनको भी प्राप्त नहीं कर सकता। तथा विना सम्यग्दर्शनके तीव्र तपश्चरण करने पर भी वह संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है।

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तये ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं। १२५ ॥

जो निश्चय व्यवहार, रत्नत्रय जाने नहीं।
सो तप करइ अपार, मृषारूप जिनवर कह्यो ॥१२५॥

अर्थ—जो मुनि न तो निश्चय रत्नत्रयके स्वरूपको जानता है और न व्यवहार रत्नत्रयके स्वरूपको जानता है, वह जो कुछ करता है वह सब मिथ्या है, विपरीत है; ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है।

भावार्थ—रत्नत्रय ही मोक्षका कारण है। जो व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रयका पालन नहीं करता उसे मिथ्यादृष्टी समझना चाहिये। उसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

किं जाणिऊण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
सम्मविसोहिविहीणं णाणतवं जाण भवबीयं ॥१२६॥

तत्त्व सकल जाने कहा, कहा बहुत तप कीन।
जानहु समकित शुद्ध विन, ज्ञान तप जु भवबीज ॥१२६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि विना शुद्ध सम्यग्दर्शनके समस्त तत्त्वोंको जान लेनेसे भी क्या लाभ है तथा विना शुद्ध सम्यग्दर्शनके घोर तपश्चरण करनेसे

भी क्या लाभ है। शुद्ध सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान और तप दोनों ही संसारके कारण समझने चाहिये।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके साथ साथ होनेवाला ज्ञान और तप मोक्षका कारण है, विना सम्यग्दर्शनके ज्ञान और तप दोनों ही मिथ्या कहलाते हैं। तथा मिथ्या ज्ञान और मिथ्या तप दोनों ही संसारके कारण हैं।

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं च तवं षडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं सम्मविणा जाण भवबीयं ॥१२७॥

व्रतगुणशील परीषजय आवसि तप चारित्र।
ध्यानाध्यन सम्यक्त्व विन भवह वीज सरवत्र ॥१२७॥

अर्थ—विना सम्यग्दर्शनके व्रत पालन करना, गुप्ति समिति पालन करना, शील पालन करना, परीषहोंको जीतना, चारित्रका पालन करना, तपश्चरण करना, छहों आवश्यकोंका पालन करना, ध्यान करना और अध्ययन करना आदि सब संसारके कारण ही समझना चाहिये।

भावार्थ—विना सम्यग्दर्शनके ये सब मिथ्या हैं, इसलिये विना सम्यग्दर्शनके ये सब संसारके कारण हैं।

खाईपूजालाहं सक्काराइं किमिच्छसे जोई।
इच्छसि जइ परलोयं तेहिं किं तुज्झ परलोयं ॥१२८॥

ख्याति पूज सत्कार लभ किम इच्छइ जोगीश।
जो इच्छइ परलोक तिहिं ते परलोक न कीश ॥१२८॥

अर्थ—हे मुनिराज! यदि तू अपने परलोकको सुधारनेकी इच्छा करता है तो फिर अपनी प्रसिद्धिकी इच्छा क्यों करता है, अपना बड़प्पन प्रकट करनेकी इच्छा क्यों करता है, किसीके लाभकी इच्छा क्यों रखता है और किसीसे भी आदर सत्कार करानेकी इच्छा क्यों करता है? हे मुनि! इन सब बातोंसे तेरा परलोक कभी नहीं सुधर सकता।

भावार्थ—परलोकमें आत्माको सुखकी प्राप्ति होना, मोक्षकी प्राप्ति होना, परलोकका सुधरना है। मोक्षकी प्राप्ति आदर सत्कार वा ख्याति पूजा लाभसे नहीं हो सकती। इसलिये इनकी इच्छा करना सर्वथा व्यर्थ है। मोक्षकी प्राप्ति रत्नत्रयसे होती है, इसलिये हे मुनिराज! रत्नत्रयका पालन कर।

कम्मादविहावसहावगुणं जो भाविऊण भावेण ।
णियसुद्धप्पा रुचइ तस्स य णियमेण होइ णिव्वाणं ॥१२९॥

करमविभावविख्यात, चइभावेइ सुभावगुण ।
रुचे सुद्ध निज आत, तिहं निश्चै निरवान हुइ ॥१२९॥

अर्थ—जो मुनिराज कर्मके उदयसे होनेवाले आत्माके वैभाविक गुणोंका (राग-द्वेष मोह मद मत्सर कषाय आदि भावोंका) चिंतवन करता है तथा उन कर्मोंके नाश होनेसे प्रगट होनेवाले उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव आदि आत्माके स्वाभाविक गुणोंका चिंतवन करता है। इन दोनोंके यथार्थ स्वरूपका चिंतवनकर जिसको अपने शुद्ध आत्मामें प्रेम होता है, जो अपने शुद्ध आत्माका श्रद्धान करता है उसको अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

मूलुत्तरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो मुक्को ।
आसववंधणसंवरणिज्जर जाणेह किं वहुना ॥१३०॥

मूल उतर उत्तरउतर द्रव्यकर्म नाहिं भाव ।
आस्रव संवर निर्जरा वंध जानि वहु काव ॥१३०॥

अर्थ-ज्ञानावरणादिक कर्म द्रव्यकर्म कहलाते हैं, उनकी मूल प्रकृतियां ज्ञानावरणादिक हैं और उत्तरप्रकृतियां मतिज्ञानावरण आदि हैं। अवग्रह ईहा अवाय धारणा वा स्मरण चिंता आदिको आवरण करनेवाले कर्मोंको उत्तरोत्तर प्रकृतियां कहते हैं। जो मुनि मूलप्रकृति उत्तरप्रकृति तथा उत्तरोत्तर प्रकृतिरूप द्रव्यकर्मोंसे सर्वथा रहित हैं और राग द्वेष आदि भावकर्मोंसे भी सर्वथा रहित हैं वे ही आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि समस्त पदार्थोंको जानते हैं।

विसयविरत्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई।
वहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणेह किं बहुणा ॥ १३१ ॥

विषयविरत मुंचकविषय शक्त न मुंच मुनीश।
वहिरंतर परमातमा भेद जानि बहु कीश ॥ १३१ ॥

अर्थ—जो मुनि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है वह इस द्रव्यकर्म और भावकर्मसे छूट जाता है तथा जो मुनि विषयासक्त है वह इन कर्मोंसे कभी नहीं छूट सकता। इसलिये हे मुनिराज! बहुत कहनेसे क्या लाभ है आत्मा जो वहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके भेदसे तीन प्रकार है पहले उसका स्वरूप समझ।

भावार्थ—आत्माके इन तीनों भेदोंको समझानेसे विषयोंकी आसक्ति अपने आप छूट जाती है। इसलिये पहले आत्माका स्वरूप समझ लेना चाहिये।

अप्पाणणाणज्झाणज्झयणसुहमियरसायणप्पाणं।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ॥ १३२ ॥

ब्रह्मज्ञानध्यानाध्ययनसुखअमृतरसपान।
त्यागि अक्षसुखभोगवे सो बहिरातम जान ॥१३२॥

अर्थ—ज्ञान ध्यान और अध्ययनसे उत्पन्न होने वाला सुख अमृतके समान है। तथा वह अमृतरूप सुख केवल आत्मासे उत्पन्न होता है। इसलिये आत्मासे उत्पन्न होनेवाला वह ज्ञान ध्यानरूपी सुखामृत एक अपूर्व रसायनके समान है। इस आत्मजन्य सुखामृतरूपी रसायनके पीनेको वा अनुभवको छोड़कर जो इन्द्रियोंके सुखोंका अनुभव करता है, इन्द्रिय जन्य सुखोंमें लीन रहता है, उसे बहिरात्मा समझना चाहिये।

भावार्थ—ज्ञान ध्यानको छोड़कर जो केवल इन्द्रियोंके सुखोंमें लीन रहते हैं वे बहिरात्मा हैं।

किंपायफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदगिंव चारुसुहं।
जिब्भसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्खसोक्खं पि ॥१३३॥

विषमोदक किंपाकफल भा इन्द्रायण मानि।
रसनासुख और दृष्टिप्रिय तथा अक्ष सुख जान॥ १३३॥

अर्थ—किंपाक फल एक विषफल होता है जो देखनेमें अत्यंत सुंदर और खानेमें अत्यंत मीठा स्वादिष्ट होता है। पकनेपर वह बहुत ही मीठा और सुंदर हो जाता है। परंतु वह विषफल है उसके खाते ही मनुष्य मर जाता है। जिसप्रकार किंपाकफल खानेमें स्वादिष्ट जिह्वाको सुख देनेवाला और देखनेमें सुंदर होता है उसीप्रकार इन्द्रियोंके सुख क्षणभरके लिये इन्द्रियों को सुख देनेवाले होते हैं और उस समय अच्छे जान पड़ते हैं परंतु जिसप्रकार किंपाक फलके खानेसे मनुष्य दुःख भोगता है और मर जाता है उसीप्रकार इन इन्द्रियोंके सुखोंसे भी जीव अनेक प्रकारके दुःख भोगते हैं और दीर्घ कालतक संसारमें परिभ्रमण किया करते हैं। अथवा विष मिले हुए लाडू जिसप्रकार देखनेमें सुंदर और खानेमें मीठे होते हैं उसीप्रकार ये इन्द्रियोंके सुख हैं। उन लड्डुओंके खानेसे जैसे मनुष्य मर जाता है उसीप्रकार इन्द्रियोंके सुखोंका फल भी नरक निगोद आदि योनियोंमें अनेक बार मरना है। इसलिये जिसप्रकार सुख चाहने-

वाले मनुष्य किंपाकफलको नहीं खाते वा विष मिले लड्डुओंको नहीं खाते उसीप्रकार अक्षय सुख चाहने वाले जीवोंको इन्द्रियोंके सुखोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये आत्माका कल्याण इसीसे हो सकता है।

देहकलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहावचेदणारूवं।
अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ वहिरप्पा ॥ १३४ ॥

तन कलत्र सुत मित्र वहु चेतनरूप विभाव।
भावइ आपनुरूप सो वहिरातमा लखाव ॥ १३४ ॥

अर्थ—जो जीव इस शरीरको आत्मस्वरूप मानता है, स्त्री पुत्र मित्र आदिको अपने आत्मस्वरूप मानता है अथवा राग द्वेष मोह आदि आत्माके वैभाविक परिणामोंको आत्मस्वरूप मानता है वह आत्मा अवश्य ही वहिरात्मा है।

भावार्थ—शरीर पुत्र मित्र कलत्र आदि सव इस आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं। राग द्वेष आदि वैभाविक परिणाम भी आत्मासे भिन्न हैं क्योंकि ये कर्मके उदयसे होते हैं। जिसप्रकार स्फटिक पाषाणके पीछे लाल फूल रख देनेसे उस पाषाणमें लाली दिखाई देती है परंतु वह लाली उस पाषाणसे सर्वथा भिन्न है। इसीप्रकार राग द्वेषादि

भी कर्मके उदयसे होते हैं इसलिये वे आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं यदि उनको आत्मासे भिन्न न माना जायगा तो फिर मोक्ष अवस्थामें भी उनकी सत्ता माननी पड़ेगी, परंतु मोक्ष अवस्थामें इनकी सत्ता नहीं रहती। कर्मोंके सर्वथा नाश होनेके कारण उन रागद्वेषादिकका भी सर्वथा नाश हो जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि रागद्वेषादिक भी आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं फिर भी जो इनको आत्मस्वरूप मानता है, इनको आत्माका रूप वा आत्माका स्वभाव मानता है उसे वहिरात्मा ही समझना चाहिये। जो अपने स्वरूपको न जाने, अपने आत्माके स्वरूपसे परान्मुख हो वही वहिरात्मा है।

इंदियविसयसुहाइसु मूढमई रमइ ण लहइ तच्चं।
वहुदुक्खमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ वहिरप्पा ॥१३५॥

अक्षविषयसुख मूढमति रमइ तत्त्व नहिं पाइ।
वहु दुख इह चिंतइ न सो वहिरात्मा कहाइ ॥१३५॥

अर्थ—जो अज्ञानी मनुष्य इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले विषय सुखोंमें सदा लीन रहता है तथा इन इन्द्रियोंके विषयोंसे अनेक प्रकारके दुःख होते हैं इस बातका

जो विचार ही नहीं करता वह आत्मतत्त्वका स्वरूप वा जीवादिक समस्त पदार्थोंका स्वरूप कभी नहीं जान सकता। ऐसे अज्ञानी जीवको वहिरात्मा कहते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियजन्यसुख नरक निगोदके कारण हैं। जो मनुष्य केवल इन्हींमें लीन रहता है और इनमें लीन रहनेके कारण आत्मतत्त्वको भी नहीं जान सकता उसे आचार्योंने वहिरात्मा ही वतलाया है।

जं जं अक्खाणसुहं तं तं तिव्वं करेइ बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतइ सो चेव हवेइ वहिरप्पा ॥१३६॥

अर्थ—संसारमें इन्द्रियजन्यजितने सुख हैं वे सब इस आत्माको तीव्र दुःख देते हैं। इसप्रकार जो मनुष्य इन इन्द्रियजन्य विषयोंके स्वरूपका चिंतवन नहीं करता वह वहिरात्मा कहलाता है।

भावार्थ—जिस पदार्थका जैसा स्वरूप है उसका उसीरूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इन्द्रिय जन्य सुखोंका स्वभाव आत्माको तीव्र दुःख देते हैं। इस बातको सब कोई जानता है। परन्तु जो अज्ञानी इन सुखोंका स्वरूप कभी चिंतवन नहीं करता तथा विना इनका स्वरूप जाने सदा इनमें लीन रहता है वह मिथ्यादृष्टी है और इसीलिये वह वहिरात्मा कहलाता है।

जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पण्णाणं हवेइ तत्थेव रुई।
तह वहिरप्पाणं वाहिरिंदियविसएसु होइ मई ॥१२७॥

जो अमेधि मधि उपजिके वहुरि रुचै तिहि सोय।
त्यों वाहिज वहिरात्मा अक्षविषय मय होय ॥१२७॥

अर्थ—जिसप्रकार जो कोई जीव विष्टामें कीडा उत्पन्न होता है तो फिर वह उसी स्थानमें और उसी योनिमें प्रेम करने लग जाता है। उसी प्रकार जो जीव वहिरात्मा हैं उन्हें वाह्य इन्द्रियोंके विषयोंमें ही प्रेम हो जाता है।

भावार्थ—जो जीव आत्माके निज स्वभावको नहीं जानते वे किसी भी पदार्थके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानसकते। वहिरात्मा आत्माके स्वरूपको नहीं जानता वह आत्माके स्वरूपसे परांमुख है इसीलिये वहिरात्मा कहलाता है। ऐसा वहिरात्मा इन्द्रियोंके सुखोंके वास्तविक स्वरूपको भी नहीं जान सकता। वे इन्द्रियजन्य सुख तीव्र दुःख देनेवाले हैं इस बातको भी वह नहीं जानता इसीलिये वह इन्द्रिय जन्य सुखमें लीन रहता है। तथा इसी कारण वह फिर इस अनन्तसंसारमें परिभ्रमण किया करता है।

सिविणे वि ण भुंजइ विसयाइं देहाइभिण्णभावमई।
भुंजइ णियप्परूवो सिवसहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो ॥१३८॥

सुपनेहु न भुंजइ विषय भिन्न भाव देहात ।
रूप निजातम भुंज शिवसुखरत मध्यम आत ॥१२८॥

अर्थ—जो आत्मा अपने आत्माको शरीरादिकसे सर्वथा भिन्न मानता है तथा जो विषयोंका अनुभव कभी स्वप्नमें भी नहीं करता। जो सदा अपने आत्माका अनुभव करता रहता है और मोक्षके सुखमें सदा लीन रहता है। उसे मध्यम आत्मा अथवा अंतरात्मा कहते हैं।

भावार्थ—जो आत्माके निज स्वरूपको जानता है और इसीलिये जो शुद्ध सम्यग्दृष्टी है, विषयोंको इन्द्रियजन्य सुखोंको आत्मासे सर्वथा भिन्न और तीव्र दुःख देनेवाले समझता है इसीलिये जो उन विषयोंका कभी सेवन नहीं करता। वह केवल अपनी आत्माको ही अपना समझता है अतएव उसीका सदा अनुभव करता रहता है। तथा मोक्षके अनंत सुखको प्राप्त करनेकी सदा लालसा करता रहता है उसके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है और उसीकी सदा भावना रखता है। एक प्रकारसे यों कहना चाहिये कि उसी मोक्षके सुखमें सदा लीन रहता है ऐसा शुद्ध सम्यग्दृष्टी आत्मा अंतरात्मा कहलाता है।

मलमुत्तघडव्व चिर वासिय दुव्वासणं ण मुंचेइ ।
पक्खालियसम्मत्तजलो यण्णाणम्मएण पुण्णो वि ॥ १३९ ॥

चिरवासित मलमूत्रघट दुरभाजन नहिं मुंच ।
तिमि पखाल सम्यक्त्वजल ज्ञान अमियकर संच ॥ १३९ ॥

अर्थ—जिस घड़ेमें बहुत दिन तक मल मूत्र भरा रहा है उसको यदि बहुतसे जलसे भी धोया जाय तो और उसमें मुंहतक अमृत भर दिया जाय तो भी वह घड़ा अपनी चिरकाल की दुर्गंधको नहीं छोड़ सकता । थोड़ी बहुत दुर्गंध उसमें बनी ही रहती है । इसीप्रकार यह जीव अनादिकालसे इन्द्रियजन्य विषयोंका सेवन करता चला आ रहा है । यदि इसको काललब्धिके अनुसार सम्यग्दर्शन भी उत्पन्न हो जाता है, उसके बलसे यद्यपि वह उन इन्द्रियजन्य विषयोंका त्याग कर देना चाहता है या त्याग कर देता है तथा अपने आत्मजन्य सुखामृतसे भरपूर हो जाता है तथापि अनादिकालसे लगी हुई वह विषयोंकी वासना लगी ही रहती है ।

भावार्थ---दर्शन मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय वा क्षयोपशम होनेसे यद्यपि अंतरात्माके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है तथापि जबतक चारित्र मोहनीय

कर्मका उदय बना रहता है तबतक विषयवासनाका त्याग सर्वथा नहीं होता। अनादिकालसे लगी हुई वह वासना बनी रहती है। वह वासना चारित्र मोहनीय कर्मके नाश होनेपर नष्ट होती है।

सम्माइट्ठी णाणी अक्खाणसुहं कहंपि अणुहवइ।
केणावि ण परिहारण वाहणविणासणट्ठ भेसज्जं ॥१४०॥

समदिठि ज्ञानी अक्षसुख कैसे अनुभव होइ।
काहू विधि परिहार नहिं रुजहर मरि हि कोइ ॥ १४० ॥

अर्थ---सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंके सुखोंको अनिच्छा पूर्वक किसी भी प्रकारसे अनुभव करते हैं, जिसप्रकार कोई पुरुष रोगको दूर करनेके लिये औषधिका सेवन करता है उसीप्रकार वह सम्यग्दृष्टी पुरुष उन विषयोंका अनुभव करता है। जिसप्रकार औषधिका सेवन करना किसीको इष्ट नहीं है, औषधिका सेवन करना सब बुरा समझते हैं तथापि रोगके हो जानेपर उसका सेवन करना ही पड़ता है। वह औषधिका सेवन कुछ इच्छापूर्वक नहीं होता तथापि जबतक रोग है तबतक उसका त्याग भी नहीं किया जा सकता। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष विषयोंके सेवन करने

को बुरा समझता है तथापि जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है तबतक उस कर्मके उदयसे उन विषयोंका सेवन करना ही पड़ता है। यद्यपि वह उन विषयोंका सेवन इच्छा पूर्वक नहीं करता तथापि जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है तब तक उनका त्याग भी नहीं कर सकता । चारित्रमोहनीयकर्मका जब मंदोदय होता है तभी विषयोंका त्याग होता है ।

किं वहुणा हो तजि वहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि ।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥ १४१ ॥

वहुत कहा कहि रूप तजि सर्व भाव वहिरात ।
वस्तुस्वरूप स्वभावमइ भजि मध्यम परमात ॥ १४१ ॥

अर्थ----हे भव्य जीव ! बहुत कहनेसे क्या लाभ है । थोड़ेसेमें इतना ही समझ लेना चाहिये कि वहिरात्माके स्वरूपको धारण करनेवाले जितने भाव हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिये और मध्यम आत्मा तथा परमात्माके जो यथार्थ स्वभाव हैं उन सबको धारण कर लेना चाहिय ।

भावार्थ--वहिरात्माके भाव धारण करना तीव्र दुःखके कारण हैं इसलिये

बहिरात्माके समस्त भावोंका त्याग कर देना चाहिये और अंतरात्मा बन जाना चाहिये। अंतरात्मा बन करके भी परमात्माका ध्यान करना चाहिये तथा अनुक्रमसे परमात्माका समस्त स्वरूप धारण कर लेना चाहिये। यही आत्माका निज स्वभाव है, शुद्ध स्वभाव है और इसीमें अनन्त सुख है।

चउगइसंसारगमणकारणभूयाणि दुक्खहेऊणि।
ताणि हवे बहिरप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥१४२॥

चतुगतिभव कारण गमन परम महादुख देत।
भावन वस्तुस्वरूप नहिं सो बहिरातम वेत ॥१४२॥

अर्थ—बहिरात्मा जीवोंके जो भाव होते हैं वे चारों गतियोंमें परिभ्रमण करनेके कारण होते हैं और अनेक महा दुःख देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—बहिरात्मा अपने आत्माके स्वरूपसे सदा परान्मुख रहता है इसीलिये उसके जितने भाव होते हैं वे सब संसारमें परिभ्रमण करनेकेही कारण होते हैं। उन विभावभावोंके द्वारा वह चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है और अनन्तकाल तक नरक निगोद वा अन्य गतियोंके महा दुःख भोगा करता है। इसलिये बहिरात्माके भावोंका त्याग कर देना ही जीवोंका कल्याण करनेवाला है।

मोक्खगइगमणकारणभूयाणि पसत्थपुण्णहेऊणि ।
ताणि हवे दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि ॥ १४३ ॥

शिवगतिगमकारण जनतु पुण्यप्रशस्तह हेत ।
सो दो विधि आतम दरव भावसरूप समेत ॥ १४३ ॥

अर्थ—अंतरात्मा और परमात्माके जो वास्तविक भाव होते हैं वे मोक्षगतिमें पहुंचनेके कारण होते हैं और अतिशय पुण्यके कारण होते हैं ।

भावार्थ—अंतरात्मा जीवके भाव साक्षात पुण्यके कारण होते हैं और परंपरासे मोक्षके कारण होते हैं । इन्द्र धरणेन्द्र गणधर आदि महा पुरुषोंके पद अंतरात्माको ही प्राप्त होते हैं तथा अंतमें तीर्थंकर वा अन्य केवलीपद पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं । परमात्मा उसी भवमें सिद्ध पद प्राप्त करता है तथा साथमें समवसरण वा गंधकुटी-की अनुपम विभूतिका अनुभव करता जाता है । यह उसके सातिशय पुण्यकी महिमा है । इसलिये अंतरात्मा बनकर परमात्मा बननेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे शीघ्र ही मोक्षपदकी प्राप्ति हो ।

दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेयं।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होई ॥ १४४ ॥

द्रव्य सुगुण परजाइ वित परस्वसमय नयमेव।
आतम जान सुमोक्खगति पथनायक होइ तेव ॥ १४४ ॥

अर्थ—आत्माके दो भेद हैं। एक स्वसमय और दूसरा परसमय। जो अपने शुद्ध स्वभावमें स्थिर रहता है उसको स्वसमय कहते हैं और जो अपने शुद्ध स्वभावमें स्थिर नहीं रहता उसको परसमय कहते हैं। जो आत्मा इन दोनों प्रकारके स्वरूपको जानता है, इनके द्रव्यरूप असंख्यात प्रदेशोंको जानता है अथवा इनको द्रव्यरूपसे जानता है, इनके समस्त गुणोंको जानता है, स्वभाव-विभावभावोंको जानता है और इनकी समस्त पर्यायोंको जानता है। वह आत्मा मोक्ष तक जानेवाले मार्गका नायक समझा जाता है।

भावार्थ—जो शुद्ध सम्यग्दृष्टी आत्मा इन दोनोंका स्वरूप जानेगा वह स्वसमय अथवा परमात्मा होनेका प्रयत्न करेगा। तथा जो परमात्मा होनेका प्रयत्न करेगा वह अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त करेगा। इसलिये स्वसमयका वा परमात्माके स्वरूपका

जानना अत्यावश्यक है । परमात्माका स्वरूप जाने विना उसका ध्यान नहीं हो सकता । तथा परमात्माका ध्यान किये विना यह आत्मा परमात्मा बन नहीं सकता। अतएव इस आत्माको परमात्मा बननेके लिये परमात्माका स्वरूप जानकर उसका ध्यान करना चाहिये। जो भव्यजीव इसप्रकार परमात्माका ध्यान करता है वह अवश्य ही मोक्ष पहुंचता है।

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं ।
परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥ १४५ ॥

बहिरंतर जिय परसमय कहे जिनेश्वर देव ।
परमातम स्वसमय यह भेद सुगुन ठानेव ॥ १४५ ॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेवने बहिरात्मा और अंतरात्माको परसमय बतलाया है तथा परमात्माको स्वसमय बतलाया है। इनके विशेष भेद गुणस्थानोंकी अपेक्षा से समझ लेने चाहिये। सो ही आगे बतलाते हैं।

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा ।
संतोत्तिमज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा ॥ १४६ ॥

मिश्र लगै बहिरातमा अंतर तुरिय जघन्य ।
मध्य संत उत्तम द्विदश परमसिद्ध जिन मन्य ॥ १४६ ॥

अर्थ— पहले दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें रहने वाले जीव बहिरात्मा हैं। चौथे गुणस्थानमें रहनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अंतरात्मा हैं। फिर पांचवें गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ऊपर ऊपर चढ़ते हुए अधिक अधिक विशुद्धि धारण करते हुए मध्यम अंतरात्मा हैं। बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव उत्तम अंतरात्मा हैं। तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान सकलपरमात्मा हैं और सिद्धपरमेष्ठी निकलपरमात्मा हैं।

मूढत्तयसल्लत्तयदोसत्तयदंडगारवत्तयेहिं ।
परिमुक्को जोइ सो सिवगइपहणायगो होई ॥१४७॥

मूढशल्यत्रयदंडत्रय त्रयगारवत्रयदोष ।
सो जोगी इनतें रहित नायक पंथगति मोष ॥ १४७ ॥

अर्थ—जो योगी देव मूढता, गुरुमूढता और लोकमूढता इन तीनों मूढताओंसे रहित है, माया मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्योंसे रहित है, राग द्वेष और

मोह इन तीनों दोषोंसे रहित है, तीनों दंडोंसे रहित है और ऋद्धियोंका मद आदि तीनों गारवोंसे रहित है वही मुनि मोक्ष तक पहुंचनेवाले मार्गका स्वामी होता है।

भावार्थ--जो मुनि ऊपर कहे हुए दोषोंका सर्वथा त्याग कर देता है वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है।

रयणत्तयकरणत्तयजोगत्तयगुत्तित्तयविसुद्धेहिं।
संजुत्तो जोई सो सिवगइपहणायगो होई ॥ १४८ ॥

रत्नत्रय करणत्रय जोगगुप्तित्रय शुद्ध।
सो जोगी संजुगत शिव गतिपथनायक उक्त ॥ १४८ ॥

अर्थ--जो मुनि रत्नत्रयसे सुशोभित है, जो अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंसे सुशोभित है, मन वचन कायस शुद्ध है और शुद्धरीतिसे तीनों गुप्तियोंका पालन करता है वह योगीमोक्ष तक पहुंचनेवाले मार्गका स्वामी होता है।

भावार्थ--जो रत्नत्रय आदिको अत्यंत निर्मल रीतिसे पालन करता है वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है।

वहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोवजोयसंजुत्तो ।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगइपहणायगो होई ॥ १४९ ॥

वहिरभ्यंतरग्रंथ विन शुद्धि जोग संयुक्त ।
मूलुत्तरगुणपूर शिव गतिपथ नायक उक्त ॥ १४९ ॥

अर्थ—जो मुनि वाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे रहित है, जो सदा शुद्धोपयोगमें लीन रहता है और जो मूलगुण और उत्तर गुणोंको पूर्ण रीतिसे पालन करता है वह मुनि अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

जं जाइजरामरणं दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं ।
सिवसुहलाहं सम्मं संभावइ सुणइ साहए साहु ॥१५०॥

जन्म जरा व्यय दुष्ट दुय अहिविष नाश करेइ ।
सो समकित शिवलाभ मुनि सुनि भावइ धारेइ ॥१५०॥

अर्थ—मोक्षको सिद्ध करनेवाले हे साधु ! सुनो और इसकी भावना करो कि यह सम्यग्दर्शन जन्म मरण और बुढ़ापा आदिके समस्त दुःखोंको दूर करनेवाला है भारीसे भारी विषोंको दूर करनेवाला है और सर्प बिच्छू आदिके समस्त विषोंको दूर

करनेवाला है। इसके सिवाय यह सम्यग्दर्शन मोक्षसुखको प्राप्त करानेमें प्रधान कारण है यह निश्चय जानो।

किं बहुणा हो दविंदाहिंदणरिंदगणधरिंदेहिं।
पुज्जा परमप्पा जे तं जाण पहाण सम्मगुणं ॥ १५१ ॥

बहुत कहा कहि इन्द्र फनिंद इंद नरिंद गणिंद।
पूज परम आतम जिके समकित प्रधान विंद ॥ १५१ ॥

अर्थ—बहुत कहनेसे क्या लाभ है थोड़ेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि भगवान अरहंत परमात्मा और सिद्धपरमात्मा जो देवेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और गणधर देवादिकके द्वारा पूज्य हुए हैं सो सम्यग्दर्शन गुणकी प्रधानतासे ही हुए हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे ही अरहंत और सिद्धपरमेष्ठी पद प्राप्त होता है। इसलिये सम्यग्दर्शनको धारण करना प्रत्येक भव्यजीवका कर्तव्य है।

उवसमईसम्मत्तं मिच्छत्तवलेण पेल्लए तस्स।
परिवड्ढंति कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ॥ १५२ ॥

उवसमसमकित वलै, पेलतु है मिथ्यात ।
होत प्रवर्ति कषाय, अवसर्पिणि दोष विख्यात ॥१५२॥

अर्थ—इस अवसर्पिणि कालमें इस कालके दोषसे मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय उपशम सम्यक्त्वको नाश करदेता है तथा कषायोंकी वृद्धि होती रहती है। अभिप्राय यह है इस अवसर्पिणीकालमें कषायोंकी वृद्धि अधिक होती है और मिथ्यात्वका प्रबल उदय रहता है जिससे उपशम सम्यक्त्व भी हो नहीं सकता और यदि होता है तो शीघ्र नष्ट होजाता है।

गुणवयतवसमपडिमादाणं जलगालण अणत्थमियं ।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥ १५३ ॥

गुणव्रत तप प्रतिमा समिक, दिनछत भक्ष जलगाल ।
दान ज्ञान दरशन चरित, यह त्रेपन क्रियपाल ॥१५३॥

अर्थ—गुणव्रत, अणुव्रत, शिक्षाव्रत, तप, ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करना, चार प्रकारका दान देना, पानी छान कर पीना, रातमें भोजन नहीं करना तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रको धारण करना। इनको आदि लेकर शास्त्रोंमें

श्रावकोंकी तिरेपन क्रियाएं निरूपण की हैं उनका जो पालन करता है वह श्रावक गिना जाता है।

भुत्तो अयोगुलोसइयो तत्तो अग्गिसिखोपमो यज्जे।
भुंजइ ये दुस्सीला रतपिंड असंजंतो ॥१५४॥

मुक्त अयुक्त जुठानिये, तपशिखा शिखि मानि।
जो भुंजइ जु दुशील रत, पिंड असंजत जान ॥१५४॥

अर्थ—जिसप्रकार जलती हुई अग्निशिखामें जो डालो सो भस्म हो जाता है उसीप्रकार जो योग्य अयोग्य सबका भक्षण कर जाते हैं तथा जो शील रहित (मूलगुण उत्तरगुणोंको न पालनेवाले) रातमें भी भक्षण करते हैं उनको असंयमी समझना चाहिये।

भावार्थ—जिनके भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार नहीं है तथा जो रातमें भी भोजन करते हैं वे सब असंयमी समझने चाहिये।

णाणेण झाणसिज्झी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा॥ १५५॥

ज्ञान ध्यान सिधि ध्यानतैं, कर्म निर्जरा सर्व।
निर्जर फलतैं मोक्ष है, ज्ञानाभ्यास सुइ कर्व ॥ १५५ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानसे ध्यानकी सिद्धि होती है, ध्यानसे समस्त कर्मोंकी निर्जरा होती है तथा समस्त कर्मोंकी निर्जरा होजानेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये।

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो।
सुदभावणेण तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह ॥ १५६ ॥

तप आचरण प्रवीन, संजमसम वैराग्य पर।
श्रुतभावन मइ तीन, ताते करि श्रुतभावना ॥१५६॥

अर्थ—जो मुनि आत्माके स्वरूप जाननेमें कुशल है और तपश्चरण करनेमें निपुण है उसके संयम पालन अच्छी तरहसे होता है तथा जिसके संयमका पालन अच्छी तरहसे होता है उसके वैराग्यकी वृद्धि होती है और जो श्रुतज्ञानकी भावना करता है श्रुतज्ञानका अभ्यास करता है उसके तपश्चरण, संयम और वैराग्य तीनोंकी ही प्राप्ति हो जाती है। इसलिये तपश्चरण, संयम और वैराग्यकी प्राप्ति करनेके लिये सबसे पहले श्रुतज्ञानका अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ—श्रुतज्ञान वा भगवान अरहंतदेव प्रणीत शास्त्रोंका अभ्यास करनेसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। आत्माके ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे वैराग्य संयम और तपश्चरणकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार इन सबका मूलकारण शास्त्रोंका अभ्यास है। इसलिये भव्यजीवोंको सबसे पहले शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये।

कालमणंतं जीवो मिच्छसरूवेण पंचसंसारे।
हिंडदि ण लई सम्मं संसारब्भमणपारंभो ॥ १५७ ॥

काल अनंतह जीव यह, मृषा पंचसंसार।
हिंडे समकित ना लहे, भवभव भ्रमण प्रकार ॥ १५७ ॥

अर्थ—अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करनेवाला यह जीव मिथ्यात्वकर्मके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनमय संसारमें परिभ्रमण करता आया है। इस अनंतकालमें भी इस जीवको अबतक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेसे फिर यह जीव पंच परावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण नहीं करता; परंतु यह जीव बराबर संसारमें परिभ्रमण कर रहा है। इससे सिद्ध होता है कि इसको अभी तक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई। इसलिये भव्य जीवोंको सबसे पहले सम्यग्दर्शन धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

सम्मद्दंसणसुद्धं जावदु लभते हि ताव सुही।
सम्मद्दंसणसुद्धं जाव्ण लभते हि ताव दुही ॥ १५८ ॥

सम्यग्दर्शन शुद्ध, जाव लाभ तावत सुखी।
नहिं समदर्शन शुद्ध, महा दुखी तावत कह्यो ॥ १५८ ॥

अर्थ—इस जीवको जब शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तभीसे यह जीव सुखी परम सुखी हो जाता है तथा जबतक इस जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती तबतक यह जीव महा दुखी रहता है। अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन ही समस्त सुखोंका कारण है तथा सम्यग्दर्शनका न होना वा मिथ्यात्वका होना समस्त दुःखोंका मूल है।

किं बहुणा वचणेण दु सव्वं दुक्खेव सम्मत्तविणा।
सम्मत्तेण विजुत्तं सव्वं सोक्खेव जाणं खु ॥ १५९ ॥

बहुत बचन करिकें कहा, बिन समकित सब दुक्ख।
जो समकित संजुगत तो, जानि येह सब सुक्ख ॥ १५९ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि वचनोंके द्वारा बहुत कहनेसे क्या लाभ है। बस

इतना ही समझ लेना चाहिये कि विना सम्यग्दर्शनके इस संसारमें चारों ओर सब दुःख ही दुःख हैं तथा यदि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाय तो फिर सर्वत्र सुख ही सुख हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ही सुख है क्योंकि अनंत सुखका कारण है और मिथ्यात्व ही दुःख है क्योंकि अनंत कालतक होने वाले तीव्र दुःखोंका कारण है।

णिक्खवणयप्पमाणं सद्दालंकार छंदलहि पुणं।
नाटयपुराणकम्मं सम्मविणा दीहसंसारं॥ १६०॥

नय प्रमाण निक्षेप छंद लहि शब्दालंकार।
नाटक पुराण कर्म समकित विन बहु संसार॥ १६०॥

अर्थ— यदि कोई जीव प्रमाण नय निक्षेपका स्वरूप अच्छी तरह जानता हो, छंद, शब्दालंकार, अर्थालंकार, नाटक, पुराण अच्छी तरह जानता हो तथा अन्य कितने ही कार्योंमें निपुण हो तथापि विना सम्यग्दर्शनके उसे दीर्घसंसारी ही समझना चाहिये।

भावार्थ—कोई चाहे जैसा विद्वान् क्यों न हो तथापि विना सम्यग्दर्शनके उसे

अनंतकाल तक बराबर संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है । संसारसे पार कर देने वाला एक सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शनके सिवाय अन्य किसीसे भी मोक्षसुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

वसहीपडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंघजाइकुले ।
सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुथजाते कप्पडे पुच्छे ॥१६१॥
पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणइ ममयारं ।
यावच्च अट्टरुद्दं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं ॥ १६२ ॥

वसत पडिम उपकरण गुण, गच्छसमय संघ जाति ।
कुल शिष प्रतिशिष छात्र सुत, जात सुपट पुथभांति ॥ १६१ ॥
पिछि सांथरउ त्यागसुख, लोभ करइ ममकार ।
तावत आरत रुद्र सुख नहिं, मुंचत अनगार ॥ १६२ ॥

अर्थ- वसतिका, प्रतिमोपकारण, गण, गच्छ, समय, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, विद्यार्थी, पुत्र, पौत्र, कपड़े पुस्तक, पीछी, संस्तर (विछोना) इच्छा आदिमें लोभसे जो साधु ममत्व करता है तथा ममत्व करनेके कारण जबतक आर्तध्यान और रौद्र-

ध्यान करता है तब तक क्या वह मोक्षके सुखसे वंचित नहीं रहता? नहीं नहीं; वह अवश्य वंचित रहता है।

भावार्थ—जो मुनि किसीमे भी ममत्व करता है वह मोक्षके सुखसे अवश्य वंचित रहता है उसे मोक्षका सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

रयणत्तयमेव गणं गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।
संघो गुणसंघाओ समयो खलु णिम्मलो अप्पा ॥१६३॥

रतनत्रय ही गण जु गच्छ, गमन करन शिवपंथ।
संघ समूह जु गुणसमय, निर्मल आतम ग्रंथ ॥ १६३ ॥

अर्थ—मोक्ष मार्गमें गमन करने वाले साधुका रत्नत्रय ही गण और गच्छ है तथा गुणोंका समूह ही संघ है और निर्मल आत्मा ही समय है।

भावार्थ—साधुओं को रत्नत्रयसे, उत्तम क्षमा आदि गुणोंसे और निर्मल आत्मासे प्रेम करना चाहिये। इनमें सर्वथा लीन हो जाना चाहिये। यही साधु का गण है यही संघ है और यही समय है इन्हींमें लीन होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

जिणलिंग धरो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी ।
परमोवेक्खाइरियो सिवगइपहणायगो होई ॥ १६४ ॥

जिन लिंगी जोगी जुगत, सम्यकज्ञान विराग ।
परम विरागी मोक्षगति, पथनायक होइ जाग ॥ १६४ ॥

अर्थ--जिस मुनिने जिनलिंग धारण किया है, नग्न दिगम्बर अवस्था धारण की है, जो आत्मज्ञानसे परिपूर्ण है, परम वैराग्य को धारण करता है, जिसका सम्यग्दर्शन अत्यंत शुद्ध है और जो रागद्वेषसे सर्वथा रहित है, उत्कृष्ट उपेक्षाभाव व वीतरागभावको धारण करता है ऐसा मुनि मोक्षका स्वामी अवश्य होता है।

भावार्थ--सम्यग्दर्शनकी अत्यंत शुद्धता, दिगम्बर अवस्था और परम वैराग्य ये सब मोक्षप्राप्तिके साक्षात् कारण हैं।

सम्मं णाणं वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तं ।
गुणसीलसहावं उप्पज्जइ रयणसारमिणं ॥ १६५ ॥

समकित ज्ञान विराग तप, भाव अवंच्छक वृत्ति ।
शील सुभाव चरित्रगुण, रयणसार यह दित्ति ॥ १६५ ॥

अर्थ—जिसमें रत्नत्रयका वर्णन किया गया है ऐसा यह रत्नसार वा रयणसार नामका ग्रंथ सम्यग्दर्शनको प्राप्त कराता है, सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कराता है, वैराग्य उत्पन्न करता है, तपश्चरणकी वृद्धि करता है, सब तरहकी इच्छाओंसे रहित ऐसे वीतराग चारित्रको बढ़ाता है, उत्तम क्षमा आदि गुणोंकी वृद्धि करता है, उत्तर गुणोंकी और भावनाओंकी वृद्धि करता है और आत्माके स्वभावकी वृद्धि करता है।

भावार्थ—इस रयणसार ग्रंथके पढ़नेसे मनन करनेसे और इसके अनुकूल अपनी पूर्ण प्रवृत्ति करनेसे, मोक्षके समस्त साधनोंकी प्राप्ति हो जाती है। तथा उन साधनोंके प्राप्त होनेसे शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

गंथमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु सुणेइ ण हु पढई।
ण हु चिंतइ ण हु भावइ सो चेव हवेइ कुदिट्ठी ॥ १६६ ॥

यहे ग्रंथ जो नहि दिखइ नहि माने न सुणेइ।
चिंतइ भावइ पढ़इ नहि होइ कुदिट्ठी जेइ ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य इस ग्रंथको न देखता है न मानता है, न सुनता है न पढता है न चिंतवन करता है और न इसकी भावना करता है उसको मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये।

इदि सज्जणपुज्जं रयणसारं गंथं णिरालसो णिच्चं ।
जो पढइ सुणइ भावइ पावइ सो सासयं ठाणं ॥ १६७ ॥

रयणसार यह मह सजन ग्रंथ निरालस निति ।
पढइ सुनइ जो वर्णये भावइ लहइ निर्वृत्ति । ॥ १६७ ॥

अर्थ—यह रयणसार नामका ग्रंथ वड़े वड़े सज्जनोंके द्वारा पूज्य है ऐसे इस ग्रंथको जो पुरुप आलस छोड़कर प्रतिदिन पढता है सुनता है, और इसकी भावना करता है इसके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति करता है वह अविनश्वर मोक्ष स्थानको अवश्य प्राप्त होता है ।

रयणसार समाप्त